

प्राकृत और पाली भाषाओं का इतिहास

संजय सोनवणी

(हिन्दी अनुवादः प्रशान्त तळणीकर)

मनोगत

‘प्राकृत और पाली भाषाओं का इतिहास’ यह पुस्तक पाठकों के हाथों सौंपते हुए मैं बहुत प्रसन्न हूं। आशा करता हूं कि इस पुस्तक के कारण प्राकृत, पाली, वैदिक और संस्कृत भाषाओं को ले कर जो कई अंधशब्दाएं प्रचलित हैं, वे दूर होंगी। भाषाओं का इतिहास एक सांस्कृतिक इतिहास होने के कारण इससे हम हमारी सांस्कृतिक जड़ें तथा हमारा क्रमविकास जान सकते हैं। भाषाओं का प्रयोग सांस्कृतिक वर्चस्ववाद के लिए भी किया गया है और भारत भी इसका अपवाद नहीं है। आज भी बड़ी संख्या में लोगों की यह मान्यता है कि, प्राकृत और पाली भाषाएं दुर्योग हैं तथा उनकी उत्पत्ति संस्कृत से हुई है। अपितु, ऐसे कई प्रमाण हैं जो इस मत के विरुद्ध हैं। प्रस्तुत पुस्तक में इस संपूर्ण इतिहास का तथा सिन्धूकाल से भगवान् महावीर, गौतम बुद्ध और वहां से आधुनिक समय तक प्राकृत भाषाओं की यात्रा का अवलोकन किया है।

‘सरहद’ संस्था द्वारा प्रस्तावित विश्व प्राकृत-पाली परिषद के उपलक्ष्य में यह पुस्तक प्रकाशित की जा रही है। आयोजक श्री इन्द्रकुमारजी छाजेड़ की अगवाई इस परिषद को प्राप्त है और भारत की एकता एवं शांति के लिए अथक प्रयास करनेवाले तथा ‘सरहद’ संस्था के कर्त्तव्यर्थी श्री संजयजी नहार एक पक्षी विचारधारा ले कर इस परिषद के आयोजन में जुटे हैं। उन्हीं की ‘चिनार पब्लिशर्स’ इस संस्था द्वारा यह पुस्तक प्रकाशित हो रही है। मुझे आशा है कि, इस परिषद तथा इस पुस्तक का पूर्ण स्वागत किया जाएगा।

मेरी मूल मराठी पुस्तक का यह सुलभ हिन्दी भाषान्तर करने के लिए मैं जानेमाने अनुवादक श्री प्रशान्त तळणीकर इनका आत्यंतिक आभारी हूं।

संजय सोनवणी

एक प्राकृत भाषाओं का उगम

प्राचीन काल से ही प्राकृत भाषाएं भारत के निवासीयों की बोली, व्यवहार, राजकाज एवं साहित्य की भाषाएं रही हैं। इन भाषाओं ने भारतीय साहित्य जीवन समृद्ध किया, इतना ही नहीं बल्कि वे कालसापेक्ष प्रवाही रही जिस कारण वे आजतक नित्य परिवर्तन होते हुए हमारे उपयोग में रही हैं। आज तक उपयोग में रही इन प्राकृत भाषाओं में हुए समयानुसार बदलाव हम सहज ही देख पाते हैं। प्रवाहशीलता किसी भी भाषा के जीवित रहने में एक महत्वपूर्ण कारक होता है। इसके विपरित बंदिस्त भाषाएं समय की धारा में पिछड़ती हुई पाई गई हैं। अन्य भाषाओं के साथ शब्दों की लेन-देन, सामाजिक व्यवहारों के बदलाव तथा नई खोजों के साथ

नए शब्दों का जन्म लेना और उनका प्रचलित होना, साथ ही कुछ पुराने शब्दों के अर्थ अधिक व्यापक होना तथा कुछ शब्दों का उनसे संबंधित वस्तुएं एवं व्यवहारों के समयबाह्य हो जाने पर लुप्त हो जाना इन सारी बातों के कारण भाषाएं प्रवाहित रहती हैं। ऐसा कहा जा सकता है कि, प्राकृत भाषाओं द्वारा यही प्रवाहितता जतन किए जाने के कारण वे आज भी जीवित हैं। भाषा किसी भी संस्कृति के साथ ही जन्म लेती है और जब तक उस संस्कृति की धारा निरंतर बहती है, तब तक उससे जुड़ी भाषाएं भी जीवित रहती हैं।

प्राकृत (आदिम) भाषाओं का जन्म कब हुआ, यह निश्चित रूप से कहना असंभव है किन्तु जैसे ही मनुष्य ध्वनि का उच्चारण करने लगा उसी समय उसकी प्राथमिक भाषा का जन्म हुआ और विशिष्य भौगोलिक एवं भूगर्भीय प्रभावों के अन्तर्गत विश्वभर में विभिन्न प्रकार से ऐसी भाषाओं का विकास होता रहा। मनुष्य पहले तो घुमक्कड़ था। अब एवं शिकार की खोज में उसका यहां-वहां जाना आवश्यक था। इसी में वह अन्य विभिन्न मानवीय गुटों या टोलियों के सम्पर्क में आने लगा तथा उनसे उसके शत्रु या मित्रों के सम्बन्ध प्रस्थापित होने लगे। इस सम्पर्क द्वारा शब्द, परिभाषा एवं उपयुक्त खोजों का तथा धर्म की संकल्पनाओं का भी आदान-प्रदान होने लगा। हालांकि मनुष्य उसे ज्ञात भूगोल की कक्षा में ही घूमता था, ऐसा नहीं था कि वह कभी अज्ञात प्रदेश में जाता ही नहीं था। किन्तु वह मात्र विपरित स्थिति में अपवाद के रूप में ही ऐसा करता था।

सी.के. चेज़ डन (इंस्टिट्यूट फॉर रिसर्च ऑन वर्ल्ड सिस्टम्स – आईआरओडब्ल्यूएस – यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया) कहते हैं कि, ईसापूर्व १५,००० वर्ष पहले मनुष्य कुछ हद तक स्थिर होने लगा था। जहां अब की उपलब्धता विपुल थी वहां वह स्थित होता था। जो कविले अब तक बंजारे थे वे इन स्थिर जनजातियों के साथ व्यापार या युद्ध के रूप में सम्पर्क में आया करते थे। लेवांत प्रदेश की नाथुफिअन संस्कृति के लोग ११,००० वर्ष पूर्व से खेती करने लगे थे। इस संस्कृति में बड़े से बड़े गांव अधिकतम् १५० घर होते थे। ऐसी सभी संस्कृतियां उनके आसपड़ोस की अन्य संस्कृतियों के साथ सुव्यवस्थित संबंध रखा करती थीं।¹

यह स्पष्ट है कि, बिना भाषा का माध्यम ज्ञात होते यह सम्पर्क या संबंध बनाना असंभव है। बल्कि बिना भाषा के कोई भी संवाद संभव नहीं है। मनुष्य अन्य प्राणियों से अलग है, तो उसके विभिन्न प्रकार के ध्वनि उत्पन्न करनेवाले प्रगत स्वरयंत्र के कारण हैं। इसी स्वरयंत्र की सहायता से उसने ध्वनिप्रतीकों का विकसन किया और विभिन्न ध्वनिसमूहों को अर्थ प्रदान कर शब्द एवं भाषा का निर्माण किया। भाषा मानव प्रजाति की अद्वितीय विशेषता है, यह इसी कारण कहा जाता है। आज के होमो सेपियन मानव के समकक्ष निएंडरथल मानव की प्रजाति यद्यपि नष्ट हुई है, उसके जो अवशेष प्राप्त हुए हैं, उनसे यह पता चलता है कि, उसका स्वरयंत्र भी काफी हद तक विकसित था और माना जाता है कि, संभवतः उसे भी बोलने की कला अवगत थी। साथ ही, अनुवंशिक शास्त्र वैज्ञानिकों द्वारा निएंडरथल एवं होमो सेपियन मानवों का संकर होने की संभावना भी व्यक्त की जाती है। इस से आज की मानवजाति को एक मिश्र या संकरित प्रजाति कहा जा सकता है।² यदि ऐसा है, तो यह सहज ही संभव है कि, हम में निएंडरथल मानव की भाषासहित कई प्रवृत्तियां भी रिसी हुई हैं। भाषा मानव की एक जन्मजात प्रवृत्ति है और भाषा के बिना हम मानव की कल्पना भी नहीं कर सकते। विश्व की सभी भाषाएं एवं उप-भाषाएं अपनी-अपनी भूगर्भीय विशेषताओं के प्रभाव में विकसित हुई हैं। इसलिए, निएंडरथल मानव की भाषा भी, यद्यपि हम उसे अप्रगत कह सकते हैं, अलग-अलग भूप्रदेश में अलग होगी इस में कोई संदेह नहीं। निएंडरथल मानव के युग का अस्त हुआ और होमो सेपियन मानव के युग का आरंभ हुआ। यह मानव नया था, अधिक प्रगत था और हम सब उसी के बंशज हैं।

आदिमानव की प्राचीन भाषाएं आत्यंतिक प्राथमिक रूप में होगी और उन भाषाओं के अवशेष आज की भाषाओं में खोजना कठिन है। हम यह अनुमान कर सकते हैं कि, ऐसे सभी शब्द जो आज प्रचलित तो हैं किन्तु उनका अर्थ जानना असंभव है, उनका मूल प्राचीन काल में ही कहीं है। प्रचलित भाषाओं में अनगिनत वनस्पति एवं वृक्षों के नाम, गांवों के नाम एवं पारिवारिक नाम ऐसे हैं, जिनका लौकिक रूप में कोई अर्थ नहीं बनता या जिनकी व्युत्पत्ति बताना संभव नहीं है। संभव है कि, इनका प्राचीन काल में कोई अर्थ होगा जो समय के साथ विस्मृत हो चुका है। मनुष्य ने जब अपनी बस्ती बसाई तब हर उस स्थान को उसने कुछ नाम भी दिया। इन

नामों के पीछे कुछ तात्कालिक कारण, कोई विचार या स्थान विशेषता होगी। चीजों के नाम, परिवारों के उपनाम या जाति-जनजाति के नाम इसी प्रकार से किसी विशेषता की दृष्टि से निश्चित किए गए होंगे। हम यह भी कह सकते हैं कि, ध्वनिक्रम के अनुसार और विशिष्ट अर्थ मानकर प्राथमिक शब्द बनाने में भी उस समय की कोई सामूहिक मानसिकता थी। किसी शब्द के उच्चारण पर उच्चारण करनेवाले व्यक्ति के लिए उसका क्या संकेतार्थ है उसे समझने के लिए सुननेवाले व्यक्ति का सामाजिक मानसशास्त्र समान होना आवश्यक होता है। भाषाओं के इतिहास के अभ्यास में हम देख सकते हैं कि, सभी भाषाएं इसी तरह विशिष्ट सामाजिक मानसशास्त्र से ही विकसित हुई हैं।

कृषि की खोज ने मानव को स्थिरता प्रदान की। इससे उसके भूभाग की संस्कृति का जन्म हुआ, नई जीवन पद्धति का जन्म हुआ। मानव का जीवन जटिल हुआ। साथ ही उसकी भाषा भी अधिक जटिल एवं अधिक अर्थपूर्ण होती गई। जो जनजातियां पशुपालन एवं शिकार से जुड़ी रही, उन्हें चराई क्षेत्र या शिकार की खोज में स्थानांतर करना अनिवार्य था किन्तु यह स्थानांतरण सीमित एवं ज्ञात परिधि में ही हुआ करता था। पशुपालकों की भाषा यद्यपि उन्हें ज्ञात प्रादेशिकता के साथ जुड़ी हुई होती थी, वह उनके व्यवसाय एवं जीवन व्यवहारों की मर्यादाओं में सीमित रूप से विकसित होती रही। कृषि कर्म ने मानवी जीवन में आमूलाग्र बदलाव लाया। जीवन स्थायी होने के कारण पक्के घर, कृषि के लिए विभिन्न औजार, जोताई के लिए उपयुक्त पशु, परिवहन के लिए पहिएवाली गाड़ीयां आदि अनेकों खोजें होने लगी। अवश्य ही, इस कारण प्रत्येक भाषा में नए शब्द समाविष्ट होने लगे और एक तरह से भाषा का विस्फोट हुआ। हिंसाब-किताब, मापन आदि के लिए मानव को प्राथमिक गणित विकसित करना भी आवश्यक हुआ। पारस्परिक सांस्कृतिक आदानप्रदान के कारण कई शब्द एक-दूसरे से लिए और दिए गए। निस्सन्देह, शब्द तथा संज्ञाएं स्वीकारते समय उनके मूल रूप में न स्वीकार कर उनमें अपनीअपनी भाषा की प्रवृत्ति के अनुसार बदलाव किए गए। इसीलिए, हर स्थानीय भाषा के मूल स्वभाव में कोई अंतर नहीं पाया जा सकता है।

उदाहरण के रूप में, ‘अग्नि’ या ‘अग्न’ यह शब्द जिस किसी अन्य भाषा में गया, वहां उसे उन भाषाओं के भाषिक स्वभाव के अनुसार ही स्वीकृत किया गया, जैसे संस्कृत में ‘अग्नी’, उत्तर सीरिया एवं दक्षिणपूर्व अनातोलिया की मितान्नी भाषा में ‘आक्रिस’, इटली की लैटिन भाषा में ‘इग्निस’, पूर्व युरोप की स्लाविक भाषा में ‘ओगोन’ और लिथुआनियन भाषा में ‘उग्रुस’। निश्चय ही यह कहना अब असंभव है कि, इन में मूल शब्द कौन सा था और उसका जन्म निश्चित रूप से कहां हुआ। क्रग्वेद और उसके समकाल एवं समप्रदेश में रचित अवेस्ता इन ग्रन्थों में आग या अग्नि शब्द नहीं हैं। अग्नी के लिए उन में ‘अतार’ शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ, हर संस्कृति हर शब्द का स्वीकार नहीं करती थी, बल्कि विभिन्न संस्कृतियों ने वस्तुएं, व्यवहार या चीजों की ओर निर्देश करने हेतु अपने स्वतन्त्र शब्दों का निर्माण किया और ऐसे शब्दों की संख्या अधिक पाई जाती है। व्याकरण के संबंध में ही ऐसा ही कुछ हुआ और यही कारण है कि, हर भाषा के कुछ शब्दों या व्याकरण में कुछ समानताएं हो कर भी वह भाषा अलग होती है।

मनुष्य जब स्थिर होने लगा, तब कृषि, पशुपालन एवं मच्छमारी ये उसके प्रमुख व्यवसाय थे। पूर्व ईरान के ज्ञाग्रोस में बारह हजार वर्ष पूर्व खेती की जाने के प्रमाण प्राप्त हुए हैं तो मेहरगढ़ (बलोचिस्तान, पाकिस्तान) में सिंधू संस्कृति की दस हजार वर्ष पूर्व की खेती के प्रमाण भी प्राप्त हुए हैं। इसके पहले के तथा समकालीन अन्य प्रमाण समय के प्रवाह में नष्ट हुए माने जाएं तो भी ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि, मानव ने कृषि की खोज आज से लगभग पंद्रह हजार वर्ष पूर्व कर ली थी। इसी समय भारतीय उपखंड में भी विभिन्न प्रादेशिक भाषाएं आवश्यकतानुसार विकसित होती रही ऐसा कहा जा सकता है।

हालांकि यहां कथित इंडो-युरोपियन भाषागुट की प्राकृत भाषाएं उपलक्षित हैं, एक तरह से विश्व की सभी आदिभाषाएं प्राकृत ही कही जा सकती हैं क्योंकि वे सभी सीधे मनुष्य की प्रकृति ही से जन्मी थी। उन भाषाओं में शब्द थे और केवल जितना आवश्यक उतनाही व्याकरण था। ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा कि भाषाओं की यात्रा एक तरह से मानव की बाल्यावस्था से प्रगल्भता तक की यात्रा के समान होता है। नन्हा

बालक तोतला बोलता है और उसका शब्दसंग्रह भी जितना आवश्यक उतना छोटा होता है। वह जैसे बड़ा होता जाता है, वैसे उसका शब्दसंग्रह भी बढ़ता है और शब्दरचना भी व्याकरण के अनुसार विकसित होती जाती है। जटिल जीवन जीनेवाले लोगों की भाषा अधिक प्रगल्भ होती है जब कि आम लोगों की भाषा में शब्दसंग्रह कम और नियमबद्ध व्याकरण का भी अभाव होता है। इसीलिए प्रगल्भ और प्रतिभाशाली व्यक्ति उसी भाषा के माध्यम से अभिव्यक्ति के अन्युच्च शिखर तक जाते हैं। वे नए शब्द बनाते हैं या विद्यमान शब्दों के अर्थ अधिक व्यापक बनाते हैं। एक ही शब्द अलग-अलग प्रदेश एवं संस्कृति में अलग अर्थ धारण करता है तथा एक ही भाषा के अंतर्गत समय के साथ शब्दों के अर्थ बदल जाते हैं।

भाषाओं का विकास इसी तरह हुआ है। यह एक ऐतिहासिक वास्तव है कि, कृषि संस्कृति के लोगों की भाषा आदिम जीवन जी रहे दुर्गम प्रदेशों के लोगों की भाषा की अपेक्षा अधिक प्रगत थी। प्राचीन भाषाएं मानवीय संस्कृति के विकास के साथ विकसित होती गईं। इंडो-युरोपियन भाषागुट सिद्धान्त के समर्थक मानते हैं की कोई प्राचीन भाषा पहले बहुत प्रगल्भ थी और समय के साथ भृष्ट होते-होते वह विकृत हो गई और उसी से आज की विभिन्न भाषाएं उत्पन्न हुईं। किन्तु हम समझ सकते हैं कि, यह दावा किस तरह से अवैज्ञानिक है। भाषा उसके अपरिष्कृत रूप से क्रमागत विकसित हो कर परिष्कृत होती है। उसका शब्दसंग्रह एवं अचूक अभिव्यक्ति के लिए उसका व्याकरण भी विकसित होता जाता है। यह प्रक्रिया उलट नहीं हो सकती और यही कारण है कि, पहले संस्कृत और पश्चात प्राकृत यह सिद्धान्त स्वीकारा नहीं जा सकता। इस वक्तव्य के अनगिनत प्रमाण भी उपलब्ध हैं।

कृषि, व्यापार और उत्पाद जैसे-जैसे बढ़ते गए, विवाह संस्था एवं सामाजिक तथा राज्य व्यवस्थाओं की रचना जैसे-जैसे जटिल होती गई, वैसे भाषाओं ने भी अधिक परिष्कृत रूप धारण किया। वाक्यों को निश्चित अर्थ प्राप्त होने के लिए एक अलिखित व्याकरण का जन्म हुआ। आदिम काल में धार्मिक साहित्य एवं पुराकथाएं भी इन्हीं पुराभाषाओं में रची गईं। भाषाओं के पारस्परिक आदानप्रदान के कारण सभी भाषाएं समृद्ध होती गईं। दुर्गम भागों में बसे लोगोंकी भाषाएं तुलनात्मक रूप से कम विकसित हुईं क्योंकि उन्हें इसकी आवश्यकता नहीं थी और उनके जीवन व्यवहार भी सीमित थे। पॉन्टियाक स्टेपे जैसे घासभूमि में रहनेवाले निम-स्थायी पशुपालकों की भाषा सिंधू संस्कृति जैसी प्रगत संस्कृति की भाषा से अधिक प्रगल्भ होगी और इतनी प्रगल्भ होगी की वह अन्य भाषाओं को भारी रूप में प्रभावित करेगी, इस प्रचलित मान्यता में बहुत बड़ी खोट है।

उत्पादन और व्यापार में आई क्रांति ने मानवी संस्कृति का रूप ही बदल दिया। मनुष्य अपने भौगोलिक क्षेत्र में उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग कर विपुल मात्रा में उत्पादन करने लगा क्योंकि, अन्य प्रदेशों में जो कुछ उपलब्ध नहीं है, अपनी वस्तुएं एवं पदार्थ दे कर तथा जो अपने पास नहीं है, उसे अन्य लोगों से प्राप्त कर व्यापार किया जा सकता है, यह आत्यंतिक महत्वपूर्ण और आर्थिक क्रान्तिकारी खोज उसने लगाई थी। सिंधू संस्कृति के लोग ईसापूर्व पांच हजार वर्ष से भी पहले से मध्य आशिया के साथ व्यापार करने लगे थे। हाथीदांत, देवदार वृक्ष की लकड़ी, तांबे की वस्तुएं, मोर और हाथी जैसे पशुपक्षी तथा धान जैसी चीजें यहां से निर्यात की जाती थीं और यहां पर उपलब्ध ना होनेवाली चीजें तथा कच्चा माल आयात किया जाता था। किसी व्यवहार में माल की कीमत के रूप में मूल्यवान धातु या जवाहर भी स्वीकारे जाते थे। समय के साथ नए उत्पाद व्यापार में सम्मिलित होते गए और व्यापार की सीमाएं चौड़ी होती गईं। समुद्र के मार्ग से व्यापार की शुरुआत होने से व्यापारी अपना माल ले कर दूर मिस्र या ईजिप्ट तक जा पहुंचे। सिंधू संस्कृति यदि संपन्न हुई तो उसके उत्पादन के एवं दूर जाकर व्यापार करने के कौशलों के कारण।

इन बातों का भाषा की दृष्टि से जो लाभ हुआ वह था दैनिक व्यवहार में कई नए शब्द, संज्ञाएं, अंकों के नामों तथा देवताओं के नामों की वृद्धि हुई। यहां के शब्द वहां पहुंचे और कुछ वहां से यहां आयात हुए। बोगाज्जकाँय संधिपत्र (ईसापूर्व १३८०) में कई प्राकृत अंकनामों के स्थानीय हिटी-मितानी रूप पाए जाते हैं, जैसे एके (एक), सत्ता (सात), पंजा (पांच) आदि। यह संधिपत्र तथा किकुली की अश्वप्रशिक्षण पुस्तिका के कई शब्द कथित प्राचीन इंडो-युरोपियन भाषा के नहीं, बल्कि भारत में स्वतन्त्र रूप में विकसित प्राकृत भाषाओं के

हैं। इन भाषाओं की निर्मितीमें कथित आर्यों का कोई सहभाग नहीं था। ये शब्द एवं संज्ञाएं भारत से वहां लोगों के स्थानांतरण द्वारा नहीं बल्कि व्यापार के रूप में दीर्घकालीक संबंध प्रस्थापित होने के कारण गए हैं यह जानना आवश्यक है। आगे चल कर हम इस बात पर सविस्तार चर्चा करेंगे, इसलिए इस क्षण इतनी जानकारी काफी है। इसी प्रकार कई व्यक्तिवाचक नाम भी भारत तथा ईरान से वहां पहुंचे और इसका श्रेय तत्कालीन अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को देना होगा। ऐसा स्थानांतरण मात्र शब्दों का नहीं बल्कि सांस्कृतिक कल्पनाएं, मिथकों और देवताओं के नामों का भी हुआ, इसे भी जानना आवश्यक है। जैसे 'शिव' इस श्रेष्ठ भारतीय देवता का नाम कई देशों की भाषाओं में पाया जाता है। विशेष रूप से उरल-अल्ताईक भाषा में रक्षणकर्ता देवता का नाम 'सैव' था, तथा सेमेटिक वंश के लोगों में 'शेवा' या 'शेवा' इस संज्ञा का प्रयोग 'श्रेष्ठ सत्ताधारी सम्राट' इस अर्थ में प्रचलित हुआ। सेमेटिक राजा लोग इस नाम का अपनी उपाधि के रूप में प्रयोग करते थे, ऐसा जेम्स हेविट ने कहा है।³

इन नामों एवं शब्दों के फैलाव में किसी भी संस्कृति के लोगों के विस्थापित होने की या उनके द्वारा किसी स्थानीय संस्कृति पर अपना वर्चस्व निर्माण किए जाने की आवश्यकता नहीं थी। आज के आर्य-विस्थापन सिद्धान्त या इंडो-युरोपियन भाषागुट सिद्धान्त का दावा इसी कारण जैसा है वैसा स्वीकृत नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार प्राकृत भाषाओं के उदय के संबंध में भी हमें यही कहना होगा। कुछ मामलों में यदि आज हम भाषिक – सांस्कृतिक समानता देख रहे हैं, तो हमें यह ख्याल रहे कि इसके पीछे प्राचीन काल के व्यापारी एवं यात्रियों द्वारा किया गया केवल वस्तुओं का नहीं, बल्कि सांस्कृतिक आदानप्रदान है।

इसका यह अर्थ नहीं की भाषागुटों का अस्तित्व नहीं है किन्तु ये गुट प्रत्येक भाषा केन्द्र के निकट के भूगोल में स्थित और वहां से जैसे-जैसे दूर जाएँ वैसे-वैसे अस्पष्ट होते जाते हैं। जैसे, किसी मराठी व्यक्ति को गुजराती या हिन्दी तो समझ में आएगी किन्तु उसी भाषागुट की, सुदूर काश्मीर में प्रचलित काश्मीरी भाषा समझ में नहीं आएगी और फ्रेन्च या जर्मन भाषा तो बिल्कुल ही समझ में नहीं आएगी। भाषागुट की यह संकल्पना धृढ़ली है और उसके निर्माण का कारण मानवसमूहों का स्थानांतरण माना जाता है। यही बात इस सिद्धान्त को छेद देती है। भाषागुट के स्थान पर यदि हम 'समान भाषाप्रवृत्ति' कहें, तो वह अधिक उचित होगा और इन प्रवृत्तियों की विशेषताएं भूगोल, भूगर्भ एवं पर्यावरण से उद्यत विशिष्ट प्रादेशिक सामाजित मानसिकता में खोजनी होगी। भारती की प्राकृत भाषाओं के उदय के कारण यहां के प्रत्येक भूभाग की वैशिष्ट्यपूर्ण प्रकृति में उपस्थित हैं और उसी ने इन भाषाओं के विकास को प्रभावित किया है।

भारत के आदिम प्राकृत भाषाओं का विकास सिंधू संस्कृति की उन्नति के साथ-साथ होता गया ऐसा हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं। वही प्रवाह आजतक विकसित और कालसापेक्ष रूप में प्रवाहित होता आया है। जो संस्कृति जीवित होती है, उसकी भाषा भी जीवित रहती है। सिंधू संस्कृति को उसके कृषि एवं अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण अधिक प्रगल्भ भाषा, व्याकरण एवं अंकगणित की आवश्यकता अनुभूत होना स्वाभाविक कहा जा सकता है। इस भाषा में उसके संपर्क के कारण अन्य भाषाओं के शब्द रीसना तथा उसके कुछ शब्द एवं संज्ञाएं पश्चिमी देशों में जाना सहज है। हम व्यक्तिवाचक एवं अंकवाचक नामों से यह देख सकते हैं। सिंधू संस्कृति में लिप्यांकित मुद्राएं बड़ी संख्या में पाई गई हैं। ये मुद्राएं अन्य संस्कृति में भी पाई गई हैं। यद्यपि इसकी लिपी का अभ्यास अभी पूर्ण नहीं हुआ है, यदि सांस्कृतिक प्रवाहितता वहां के प्रदेश में आज भी अवशिष्ट है, तो यह कहना तर्कविरुद्ध होगा। तत्कालीन भाषाएं किस प्रकार की होंगी इसका अनुमान हम लगा सकते हैं। इसके लिए आईए हम पहले सिंधू संस्कृति की जो व्यावहारिक एवं धार्मिक संकल्पनाएं आज भी अवशिष्ट हैं, उसका अवलोकन करें, ताकि प्राकृत भाषाओं की प्राचीनता सिद्ध होने में हमें सहायता हो।

सिंधू संस्कृति की धर्म कल्पना

कोई संस्कृति प्रवाही है या नहीं यह समझने का एक साधन होता है आज की धर्म कल्पनाओं ने प्राचीन धर्मकल्पनाओं के साथ कहां तक अपना नाभिरज्जु जुड़ा रखा है इसका मूल्यमापन। अब्राहमिक धर्मों के जन्म के पश्चात उन में उनकी पूर्ववर्ती, पश्चिम की प्राचीन पेगन धर्मकल्पनाओं के कुछ-कुछ अवशेष अब भी खोजे जा सकते हैं। भारत में यह प्राचीन कल्पनाओं का प्रवाह निरंतर और समय के साथ अधिक प्रबल होता हुआ आजतक निरंतर बह रहा दिखाई देता है। सिंधू संस्कृति की देवतासंबंधी संकल्पनाओं में हम यह देख सकते हैं। इस संस्कृति की प्राप्त मुद्राओं पर उकेरे योगीश्वर शिव, किरात शिव, पशुपती शिव आदि प्रतिमाएं, शिव लिंग, मातृपूजन के प्रतीक योनिनिर्दर्शक प्रस्तररखंड और आज की शिव एवं देवी की पूजा प्रतिमाएं शिवप्रधान संस्कृति का अखंड स्वरूप दिखाई देता है। हम यह जानते ही हैं कि, लिंग-योनि पूजा यह शिवप्रधान हिंदू धर्म की मूलभूत विशेषता है।

(चित्र १ - मुद्रा)



डा. रा. ना. दांडेकर लिखते हैं, “सिंधू संस्कृति का धर्म मूर्ती/लिंग/मातृपूजकों का था और कालांतर में कभी जन्मे वैदिक धर्म से वह पूर्ण रूप से भिन्न था। इस संस्कृति की मुख्य देवता को ‘सिव’ कहा जाता था और इससे यह स्पष्ट होता है कि, सिंधू संस्कृति का धर्म आदि शिव का था। यह धर्म मूर्ती/प्रतिमा पूजकों का था। लिंग पूजा, मातृ पूजा इस धर्म का हृदय था, जो आज भी हिंदू धर्म का एक महत्वपूर्ण भाग है। इसके विपरित वैदिक धर्म है। ऋग्वेद या किसी भी वैदिक साहित्य में प्रतिमा या मातृदेवता पूजन का उल्लेख भी नहीं पाया जाता, बल्कि उसमें प्रतिमा एवं लिंग पूजन का निषेध किया गया है। (दृष्टव्य: ऋग्वेद ७.२१.५, १०.९९.३ और यजुर्वेद ३२.३)”⁴ तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी ने अपने ‘वैदिक संस्कृतिचा विकास’ इस पुस्तक में और पश्चिमी विद्वानों ने अपने विवेचनों में सिंधू संस्कृति का धर्म शिव-शक्ति प्रधान होने का स्पष्ट उल्लेख किया है। इसका कारण है शिव-शक्ति के आदिरूप के प्रचुर प्रमाण उस स्थान पर पाए गए हैं।

योगीश्वर शिव की प्रतिमा को जैन धर्मीय लोग ऋषभनाथ तथा आदिनाथ का रूप मानते हैं। ऋषभनाथ का चिन्ह वृषभ यानी बैल है और उसे शिव का वाहन माना जाता है। शिव का एक नाम आदिनाथ भी है। श्रमण संस्कृति का जन्म भी वेदपूर्व और सिंधू संस्कृति के समय होने के कारण तत्कालीन इस प्रमुख देवता को श्रमण संस्कृति ने भी अपनाया, अपितु अपने अलग रूप में। जैसे, शिव अजन्मा है, यानी उसके माता-पिता कोई नहीं, किन्तु जैनों के ऋषभनाथ के पिता नाभि और माता मरुदेवी हैं। हिंदू धर्म जो मूलतः लोक धर्म है, उसकी मान्यता है कि, यह विश्व शिव और शक्ति के मिलन से जन्मा है, जब कि जैन लोगों की मान्यता अनुसार इस विश्व का निर्माण किसी ने नहीं किया है, वह स्वयं अनादी और अजन्मा है जब की हिंदू लोग मानते हैं कि, शिव और शक्ति सृष्टिनिर्माता ईश्वर हैं, किन्तु जैन धर्म में सर्वशक्तिमान, सृष्टिनिर्माता ईश्वर का कोई स्थान नहीं है। फिर भी, ऐसा कहा जा सकता है कि, श्रमण संस्कृति ने अपने तत्त्व विचार से कुछ हद तक हटते हुए ऋषभनाथ की प्रतिमा स्वतंत्र रूप में, परंतु मूल संस्कृती के स्वभाव को कायम रखते हुए, विकसित की। जैन और बौद्ध ये समन संस्कृति से उत्पन्न धर्म आज भी अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं। प्राचीन धर्म संकल्पनाओं को किसी न किसी तरह उन्होंने अपने धर्म में जीवित रखा दिखाई देता है। इस प्रकार धार्मिक और तात्त्विक परंपराएं वैचारिक एवं दार्शनिक द्वंद्व

निर्माण करते हुए अखंडित रूप से चलती रहीं किन्तु भाषाएं पूर्ण रूप से लुप्त हुई, ऐसा दावा किसी भी आधार से किया नहीं जा सकता।

कालिबंगा (राजस्थान) में प्राप्त ईसापूर्व २६०० का शिवलिंग

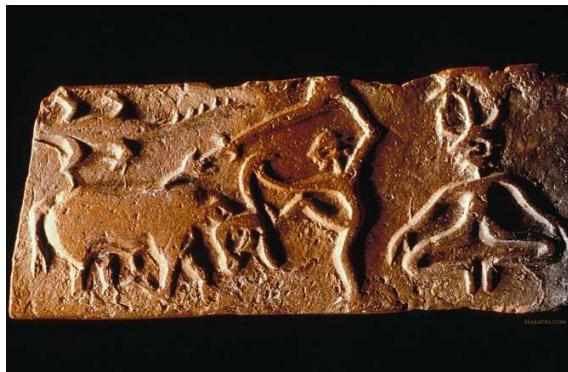
(चित्र २ - शिवलिंग)



हड्डपा में भी शिवलिंग प्राप्त हुआ है। शिव और शक्ति की संयुक्त पूजा की परंपरा शुरू होने का यह एक पुरातन प्रमाण है।

परंपरानुसार जिस प्रकार शिव एक योगी माना गया है, उसी प्रकार वह एक शिकारी (किरात) भी है। हड्डपा से प्राप्त पट्टिका में शिव की ये दो प्रतिमाएं ध्यानपूर्वक देखें।

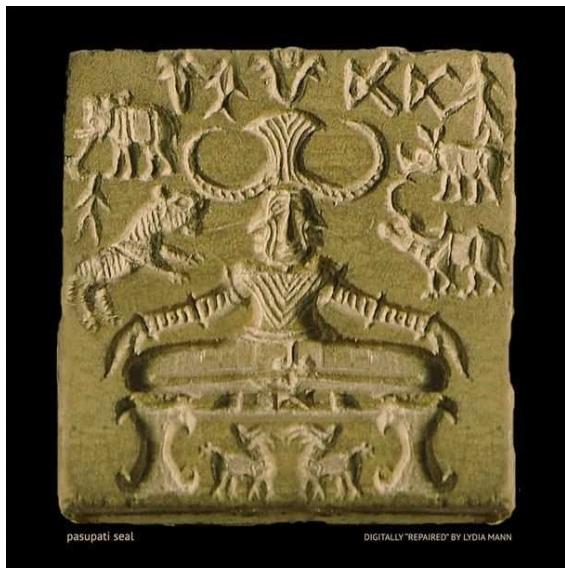
(चित्र ३ - योगी और किरात)



इन में शिकारी शिव के हाथ में त्रिशूल का प्राचीन रूप है, जिसमें दो दांत ऊपर नहीं, बल्कि नीचे की ओर हैं। आगे चलकर तीनों दांत ऊपर की दिशा में किए गए और आज का त्रिशूल उत्पन्न हुआ। शिव के मस्तक पर आज के त्रिशूल के समान तीन नोंकें हैं। शिव के आद्य रूप द्वारा हम देख सकते हैं कि, कैसे प्रतिमा शास्त्र विकसित होता है।

शिव का दूसरा महत्वपूर्ण नाम यानी पशुपति। सिंधू संस्कृति के उत्खनन में योगी और पशुओं का अधिपती इन दो रूपों में उकेरी गई शिव प्रतिमा से युक्त अनगिनत मुद्राएं प्राप्त हुई हैं। नेपाल के विश्वविद्यालय पशुपतिनाथ मंदिर को भला कौन भुला सकता है? पाशुपत सम्प्रदाय हिंदू धर्म का एक पुरातन सम्प्रदाय माना जाता है।

(चित्र ४ - पशुपति)



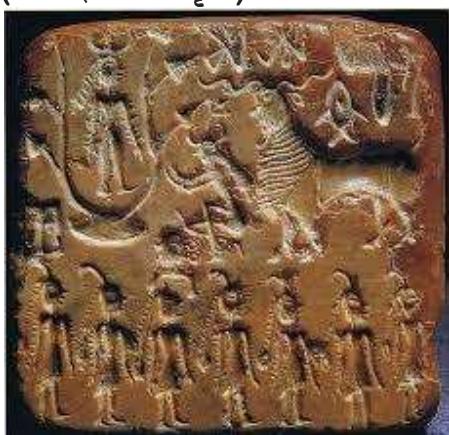
आदिशक्ति का पुरातन रूप

(चित्र ५ - आदिशक्ति)



ससमातृका

(चित्र ६ - ससमातृका)



ऊपर सिंधू संस्कृति के हड्ड्या में प्राप्त सप्तमातृका प्रतिमा देखें। ऐसी प्रतिमाएं अन्य स्थानों पर भी पाई गई हैं और 'साती आसरा' नाम से सप्तमातृका ग्रामीण महाराष्ट्र में भी बालरक्षक देवताओं के रूप में पूजी जाती हैं। यह एक लक्षणीय बात है। इसी तरह, मातृदेवता पूजा, वृक्ष पूजा, वृषभ पूजा और नाग पूजा का भी अस्तित्व सिंधू संस्कृति में पाया गया है और ये पूजाएं हिंदू, जैन एवं बौद्ध धर्मों में महत्वपूर्ण मानी जाती हैं।

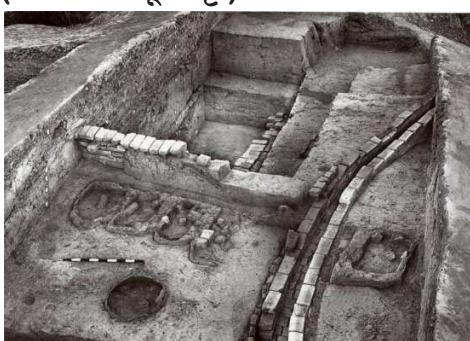
सिंधू संस्कृति की सामाजिक संस्कृति का अखंडित प्रवाह

धर्म संकल्पनाओं का निरंतर प्रवाह जिस प्रकार सांस्कृतिक एकरूपता दर्शाता है, उसी प्रकार तत्कालीन समाज जीवन की मूलभूत विशेषताएं आजतक टिके रहना यह संस्कृति के टिके रहने का लक्षण होता है। सिंधू संस्कृति जहां थी उन स्थानों की जो विशेषताएं उसमें थीं वे आज भी वहां कैसे दिखाई देती हैं, यह देखना मनोरंजक तथा बोधप्रद होगा।

तंदूर भट्टी के अवशेष

आज पंजाब (और लगभग संपूर्ण भारत में) प्रचलित तंदूर भट्टीयां सिंधू संस्कृति के समय में भी उपयोग में लाई जाती थी। उनके अवशेष हमें कालिबंगन एवं लोथल में प्राप्त हुए हैं। एम. के. ढवलीकर इस पुरातत्त्वविद ने सर्वप्रथम तंदूर भट्टीयों के अवशेषों को पहचाना। उनके पहले कुछ विद्वान इन अवशेषों को यज्ञकुंड के अवशेष कहने लगे थे। इनामगांव (महाराष्ट्र) में भी ऐसे ही चूल्हों के कुछ अवशेष प्राप्त हुए हैं।⁵

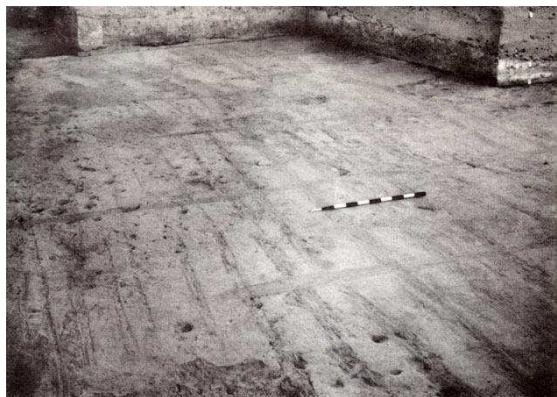
(चित्र ७ – तंदूर भट्टी)



खेत की जोताई

बी. बी. लाल के नेतृत्व में कालिबंगन यहां किए गए उत्खनन में सिंधू संस्कृति के ईसापूर्व २८०० में प्रचलित जोताई पद्धति के प्रमाण प्राप्त हुए हैं। यह जोताई ग्रीड पद्धति से की जाती थी। यही पद्धति उस क्षेत्र में विशेष रूप से सरसों और फलियों की खेती के लिए आज भी उपयोग में लाई जाती है। जोताई किए गए खेत के अवशेषों का यह विश्व का इकलौता प्राचीन स्थान है।⁶

(चित्र ८ – खेत की जोताई)



आभूषण

(चित्र ९ – आभूषण)

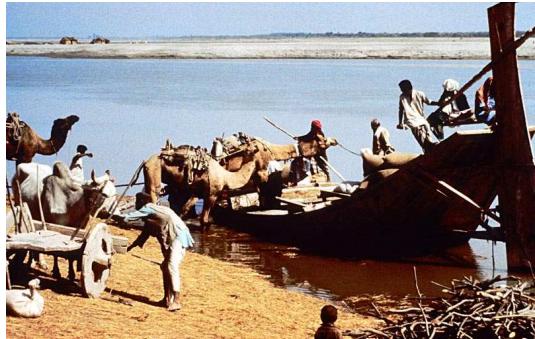


चित्र में दर्शाए गए सिंधु संस्कृतिकाल के आभूषण राजस्थान, सिंध एवं कच्छ प्रदेशों की ग्रामीण संस्कृति में आज भी पहने जाते हैं। इन आभूषणों में शिरोभूषण, कर्णभूषण, चूड़ियां, बाहुभूषण एवं मालाएं सम्मिलित हैं। चूड़ियां लाल और काले रंग की थी और धातु से भी बनाई जाती थी।

समतल तल की नौका और बैलगाड़ीयां

(चित्र १० – नौका और बैलगाड़ी)



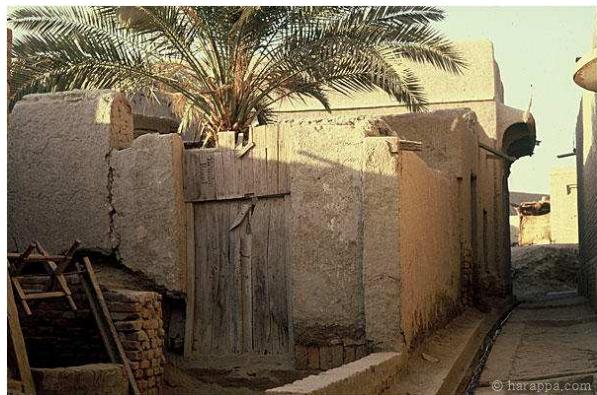


सिंधू काल की नौकाओं का तल समतल होता था। सिंधू प्रदेश में आज भी ऐसी ही नौकाएं चलाई जाती हैं। बैलगाड़ी बनाने की पद्धति भी हजारों वर्षों से एक ही है। ऊपर के तीसरे चित्र में आज की समतल तल की नौका एवं बैलगाड़ी देते हैं, जो सिंधू काल के नौका और बैलगाड़ी के समान ही हैं। उपयुक्तता और परंपराप्रियता के कारण कई व्यवहारिक साधन सदियों तक प्रचलित रहते हैं। सिंधू संस्कृति के लोग आरों के पहिये उन्हें ज्ञात होने पर भी उनका प्रयोग नहीं करते थे। वे पूर्ण गोल के भरे पहियों का प्रयोग करते थे। यह सांस्कृतिक परंपरा का जतन विशेष है।

कुएं

सिंधू संस्कृति में घर के भीतर तथा बाहर भी कुएं होते थे। इन कुओं के चबुतरे होते थे। सिंधू में आज भी ऐसे कुएं पाए जाते हैं। सिंधूकाल के जलपहिये समय के साथ नष्ट हो चुके हैं किन्तु कुओं के आकार एवं रचना आज भी वही हैं। उस समय जलनिःसारण के लिए जिस प्रकार के ड्रैनेज सिस्टम का उपयोग किया जाता था, वह आज भी वैसा ही है।

(चित्र ११ – कुएं)



© harappa.com

संक्षिप्त में, सिंधूकाल के दैनिक जीवन की प्रमुख बातों का प्रभाव आज भी उस क्षेत्र में कायम है। यह बात खाने की थालीयां, धातु एवं मिट्टी के बर्तन आदि को भी लागू होती है। पहले यह माना जाता था कि, सिंधू संस्कृति नष्ट हो गई किन्तु आधुनिक अनुसंधान द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि, यह वास्तविक नहीं है। इसीलिए विद्वानों के अनुसार आधुनिक हड्डप्पा की वस्तुएं एवं बर्तन आदि चीजें देखी जाए तो वे प्राचीन हड्डप्पा की वस्तुओं का नया संस्करण मात्र हैं।

जो संस्कृति नष्ट नहीं होती व प्रवाही होती है और संस्कृति का मूलप्राण यानी भाषा भी समय के साथ विकसित होती रहती है। संस्कृति और भाषा का आत्मा बदलता नहीं। यदि सिंधू काल की धार्मिक कल्पनाएं एवं जनसंस्कृति का आत्मा आज तक बदला नहीं है, तो हमें चाहिए की हम स्वयं से पूछें, तत्कालीन भाषाओं का प्रवाह किसी आक्रामक या स्थानांतरित समूहों के कारण कैसे खंडित हो सकता है? गत ढाई हजार वर्षों में भारत

पर अनेक आक्रमण हुए और कई विदेशी सत्ताओं ने यहां दीर्घ समय तक राज भी किया फिर भी हमारी भाषाओं का आत्मा, प्रवृत्ति और संस्कृति में कोई मूलभूत बदलाव नहीं आया यह इतिहास है। इसके लिए हमें सिंधू संस्कृति के विपुल मात्रा में प्राप्त हुए लिप्यांकित मुद्राएं, लेख एवं प्रतिमाओं के आधार पर उस संस्कृति की भाषा का भी विचार करना आवश्यक है। किन्तु इससे पहले, सिंधू संस्कृति की खोज से ले कर आज तक विद्वानों के उससे संबंधित विचार कैसे और क्यों बदले इसका भी विचार करना आवश्यक है। इसके बिना आजतक भाषा के संबंध में कैसे अवैज्ञानिक विचार हमारे सामने रखे गए हैं यह समझना सुलभ नहीं होगा।

¹ 'World Urbanization: The role of settlement systems in human social evolution,' by C. K. Chase-Dunn (available online at – <http://www.eolss.net/Sample-Chapters/C04/E6-94-18.pdf>)

² Who we are and how we got here: Ancient DNA and the New Science of the Human past, David Reich, Oxford University Press, 2018 pp 25

³ The ruling Races of prehistoric times in India, by James Francis Katherinus Hewitt, 1894, Constable, pp 362

⁴ Hinduism – Dr. R. N. Dandekar

⁵ The Quest for the Origins of Vedic Culture: The Indo-Aryan Migration Debate, Edwin Bryant, Oxford University Press, 2001 pp 160

⁶ The Indus Basin History of Irrigation, Drainage and Flood Management, Edited by H. Fahlbusch, Bart Schultz and C. D. Thatte

दो सिंधू संस्कृति के संबंध में विचार प्रवाह

सिंधू संस्कृति की खोज १९२० में हुई और तभी से वह विभिन्न अंग से चर्चा में रही है। इसके निर्माता कौन थे, यह कैसे नष्ट हुई आदि बातों को ले कर परस्पर विरोधी मत शुरू से ही व्यक्त किए गए। इस संस्कृति की प्राप्त मुद्राओं पर उकेरे लेखों का अभ्यास अब भी शुरू है किन्तु कुछ लोगों ने लेख पढ़ने का दावा भी किया। कुल मिलाकर इस विषय को वादग्रस्त बनाया गया। इसके पीछे कुछ गुटों की वर्चस्ववादी नीति थी यह बात अब स्पष्ट हो चुकी है, इस कारण उनके कई दावे निरर्थक तो कई हास्यास्पद सिद्ध हुए हैं। जब तक रोज़ेटा स्टोन जैसा कोई द्वैभाषिक लेख सामने नहीं आता, इस लिपि का अर्थ लगाना असंभव लगता है। इसीलिए, जब तक लिपि नहीं पढ़ी जाती तब तक सिंधू संस्कृति की भाषा का भी ज्ञान होगा नहीं, ऐसा एक तर्क दिया जाता है। इस संस्कृति के संबंध में परस्पर विरोधी मत क्यों दिए गए इस बात को जब तक हम समझ न लें, तब तक भारतीय भाषाएं तथा उनके मूल के बारे में जो कई अवैज्ञानिक प्रवाद क्यों और कैसे फैलाए गए यह भी हम समझ नहीं पाएंगे।

सिंधू संस्कृति की खोज होने के पहले ही, ब्रिटिश एवं वैदिक प्रभाव के नीचे भारतीय इतिहास की रचना की गई थी। भारतीय धर्म संस्कृति का प्रारंभऋग्वेद से हुआ यह मत सर्वमान्य था, किन्तु यह बात यहाँ रूपी नहीं। फ्रांज बोप्प और विल्यम जोन्स ने जब कहा की, संस्कृत और लैटिन भाषा में कुछ शब्द समान हैं इसका अर्थ किसी समय पुरा-आर्य भाषा बोलनेवाले लोग साथ रहते थे और फिर किसी समय वे बिखर गए किन्तु उनकी भाषाओं में समानता कायम रही, तब से इस प्रकार के मत व्यक्त होने की सही मायनों में शुरुआत हुई। इसी से धीरे-धीरे आर्यवंशवाद का बीज बोया गया। साथ ही, उपनिवेशनवादी अंग्रेज तथा राष्ट्रवादी जर्मन अपनी वंशश्रेष्ठता प्रस्थापित करना चाहते थे और इस कारण अपना इतिहास और पीछे ले जाना चाहते थे। (ग्रीस का छोटा अपवाद छोड़ युरोप का इतिहास विश्व की अन्य संस्कृतियों की अपेक्षा बहुत अर्वाचीन है) मैक्समुल्लर पहला विद्वान था जिसने वेद और अवेस्ता इन ग्रन्थों में आर्य-ऐरन-अरियाना जैसे समान लगनेवाले शब्दों के आधार पर आर्य वंश का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। नीली आंखें, सुनहरे बाल, ऊंचा और भारी भरकम कद, गोरा रंग इनसे युक्त आर्य और उनके आक्रमणोत्सुक रथ इस कल्पना ने युरोप को इतना मोहित किया की आशिया तथा युरोप को संस्कृति प्रदान करनेवाले तथा आर्य भाषाओं के निर्माता वे ही हैं, ऐसा गर्व उन्हें होने लगा। इसी से आगे चलकर आर्यों के आक्रमण का सिद्धान्त सामने आया। निस्सन्देह, जब मैक्समुल्लर को इस का वांशिक खतरा महसूस हुआ, तब उसने आर्य वंश की संज्ञा वापस ले ली और स्पष्ट किया की, आर्य से उसका तात्पर्य वंश नहीं बल्कि आर्य भाषाएं बोलनेवाले लोगों का भाषिक गुट ऐसा था। किन्तु उसके पूर्वकथन का जो विपरित परिणाम होना था, वह हो चुका था।

भारतीय लोग, विशेष रूप से वैदिक लोगों ने स्वाभाविक रूप से उन आक्रामक आर्यों को अपने पूर्वज मान लिया क्योंकि ‘आर्य’ शब्द आखिरकार वेदों से ही तो आया था। यह सिद्धान्त सत्ताधारी ब्रिटिश और वैदिक लोगों को मूल एक ही सिद्ध करता था, जो ब्रिटिशों के लिए लाभकारक था इसलिए उन्होंने इस सिद्धान्त को और मजबूत बनाया। आगे चलकर लोकमान्य टिळक ने ‘आर्किटक होम इन वेदाज्’ नामक ग्रन्थ लिखकर ऋग्वेद में उपस्थित प्रमाणों के आधार से यह सिद्ध कर दिया की वेदों के निर्माता मूल रूप से उत्तर ध्रुव के वासीही थे। इससे पहले पेरियार तथा महात्मा फुले इन्होंने इसी सिद्धान्त के आधार से विदेशी आक्रामक आर्य और स्थानीय शूद्रातिशूद्र मूलनिवासी ऐसा भेद कर के आक्रामक आर्यों की वैदिक व्यवस्था पर धावा बोल दिया था।

इसी बीच जर्मन लोगों ने वे ही मूल आर्य लोग और जर्मनी ही उनका मूल स्थान घोषित कर ऐसा दावा किया कि, उनके प्राचीन पूर्वजों की ही एक शाखा ने वेदों का निर्माण किया है।^१ युरोप में आर्यों के मूल स्थान को ले कर कई ग्रन्थ लिखे गए। भारत में भी यही हुआ क्योंकि इस सिद्धान्त का प्रभाव इतना अधिक था। किन्तु

इससे भारत में वांशिक दृष्टि से दो पक्ष बन गए। मानववंशशास्त्री रिस्ली आदि अनुसंधानकर्ताओं ने भारत की जनसंख्या विभिन्न वांशिक गुटों में विभाजित होने का सिद्धान्त प्रस्तुत किया।

सन् १९२० में सिंधू संस्कृति के अवशेष प्राप्त होना शुरू हुए। उस समय किसी ने यह कल्पना भी नहीं की थी कि, इतनी प्रगत एवं भव्य संस्कृति यहां रही होगी। मान्यता तो ऐसी थी की, आर्यों के आगमन से पूर्व यहां (भारत) आदिवासी, ग्रामीण और कोई भी भाषा ठीक से न बोल पानेवाले दास, दस्यु आदि अनार्य लोग बसते थे। किन्तु उत्खनित प्रमाण यह स्पष्ट दर्शा रहे थे कि, यहां के लोग आत्यंतिक प्रगत थे, इसलिए यह वास्तविकता को नाकारा भी नहीं जा सकता था। परिणामस्वरूप पूर्व सिद्धान्त बदलना अनिवार्य हो गया।

इसके पश्चात, आक्रामक आर्यों द्वारा सिंधू संस्कृति नष्ट किए जाने का तथा वहां के लोगों को दक्षिण की ओर भगा दिए जाने का सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया। इसके आधार के लिए ऋग्वेद में उपस्थित कुछ द्रविड़ी शब्दों की ओर निर्देश किया गया। जैसे-जैसे सिंधू संस्कृति के अवशेष उभरने लगे वैसे ऋग्वेद ही के आधार से इस नए सिद्धान्त में और भी बातें भरी जाने लगी। ऋग्वेद में दास-दस्युओं के पुर इंद्र द्वारा ध्वस्त किए जाने के कई वर्णन हैं। इस कारण भी सिंधू संस्कृति का नाश आक्रामक आर्यों द्वारा ही किया जाने का एक मतप्रवाह था। इस संस्कृति के ध्वस्त शहर इस सिद्धान्त की पुष्टि के काम आए। फिर भी इन कमजोर प्रमाणों के आधार पर इतना बड़ा सिद्धान्त प्रस्तुत करना अविचार ही था क्योंकि साढ़े-बारह लाख वर्ग किलोमीटर क्षेत्र के सभी गांव तथा शहर एक ही समय ध्वस्त करना आर्यों के लिए असंभव था। इसके अतिरिक्त, स्वयं ऋग्वेद ही कहता है कि, इंद्र ने जो शहर ध्वस्त किए थे वे 'अश्मनमयी' (ऋ. ४.३०.२०) या 'आयसी' (ऋ. २.२०.८, ४.२६.३) यानी पाषाण या धातु से (धातु जितने कठीन पाषाण से) बने थे। किन्तु सिंधू संस्कृति के घर तथा दीवारें पक्की ईंटों से बनी थी, न की पाषाण से। अफगानिस्तान में प्राप्त हुए बैक्ट्रिया-मार्जियाना आर्कियॉलॉजिकल काम्प्लेक्स के नाम से जाने जानेवाली ऋग्वेदकालीन संस्कृति के घर पाषाण से बने हैं। ऋग्वेद में उल्लेखित दास-दस्युओं के पुर या गांव इसी संस्कृति से हैं और संबंधित उल्लेख निश्चय ही सिंधू संस्कृति के गांवों के नहीं हैं। इसके अतिरिक्त दास-दस्यु समाज अफगानिस्तान में ही बसता था। अवेस्ता ग्रन्थ में भी दाह, दाहवे, दख्युमा आदि नाम दास-दस्यु के ही निर्देशक हैं।

आर्य आक्रमण सिद्धान्त के अवनत होने के जो कई कारण हैं, उनमें यह भी एक महत्वपूर्ण कारण है। अपितु, इस सिद्धान्त के प्रभावकाल में ही द्रविड़ लोगों का अलग राष्ट्रवाद जोर-शोर से आगे आया। उत्तर भारत की भाषाएं तथा वहां के लोग इस द्वेष के लक्ष्य बने, यहां तक की, स्वतन्त्र द्रविड़ीस्तान की मांग तक की गई। वहां की राजनीती द्रविड़-केन्द्री बन गई, जो आज भी वैसी ही है। फिर भी, बहुजनों के लिए सिंधू संस्कृति एक बड़ा भावनिक आधार सिद्ध हुई और इस संस्कृति के निर्माता बहुजन तथा उसके ध्वंसक आर्य वंश के लोग ऐसा एक सामाजिक संघर्ष खड़ा हो गया।

अब वैदिकों के मन में यह आशंका उत्पन्न हुई की अब हम इस भूमि में परकीय सिद्ध होने का खतरा है। इसलिए गोलवलकर गुरुजी ने प्राचीन समय में उत्तर ध्रुव वाराणसी में था ऐसा कहा और आर्यों को भी स्थानीय सिद्ध करने का प्रयास किया।^३ आगे चलकर डा. नी. र. वङ्हाडपांडे ने 'कपोलकल्पित आर्य व त्यांच्या स्वान्या' यह नया ग्रन्थ लिखा और लोकमान्य टिळक का सिद्धान्त ऋग्वेद ही के आधार से रद्द कर दिया तथा आर्यों का मूलस्थान भारत सिद्ध करने का प्रयास किया।

आर्य वंशवाद से प्रेरित होकर हिटलर ने जो सेमेटिक वंशीय यहुदी (ज्यू) लोगों का नरसंहार किया, उस के कारण युरोपियन विद्वानों ने अब 'आर्य' इस वंश निर्दर्शक शब्द का प्रयोग करना बंद कर दिया है किन्तु इसी आर्य वंश सिद्धान्त के आशय को कायम रखते हुए उन्होंने इंडो-युरोपियन भाषागुट सिद्धान्त प्रस्तुत कर दिया। इस सिद्धान्त के अनुसार इंडो-युरोपियन भाषा परिवार के पूर्वज प्राचीन समय में किसी एकही स्थान पर बसते थे और ईसापूर्व २००० के पश्चात क्रमशः भारत, ईरान, अनातोलिया तथा ग्रीस में वे समय-समय से फैल गए। आर्यों के मूल स्थान का विवाद अब तक अनिर्णित है। दक्षिण रशिया के स्टेपे, अँड्रोनोवो, सिन्थास्ता संस्कृति और अनातोलिया ऐसे विभिन्न प्रदेशों में उनका मूल आज भी जोर-शोर से बताया जाता है। विशेष बात यह है कि,

सभी विद्वान उन्हीं प्रमाणों के अलग-अलग अर्थ लगाते हैं। इंडो-आर्यन भाषा बोलनेवाले लोगों के विस्थापन के समर्थन के लिए अब आनुवंशिक विज्ञान का भी प्रयोग किया जा रहा है।

फिर भी सिंधू संस्कृति के निर्माणकर्ता का प्रश्न अनुत्तरित रहता है क्योंकि आर्य भाषा बोलनेवाले लोगों के स्थानांतर का सिद्धान्त मान लिया जाए तो भी उसका समय सिंधू संस्कृति के उत्कर्ष काल के बहुत ही बाद का था। वैदिकों ने इस प्रश्न का हल अपनी तरह से निकालते हुए आर्य ही सिंधू संस्कृति के जनक होने का एक नया सिद्धान्त प्रस्तुत किया, जिस के लिए उन्हें ऋग्वेद का काल और पीछे ले जाना आवश्यक हुआ। वैसे भी वेद मौखिक परंपरा से जतन किए जाने की बात पहले से ही की गई थी, इसलिए वेदकाल का समय कोई भी हो सकता था और इसमें कोई कठिनाई नहीं थी। कठिनाई थी तो सरस्वती नदी की, जिस के तीर पर वेद रचे गए थे। अन्य किसी भी बातों का कोई भी अर्थ निकाला जा सकता था किन्तु नदी का अस्तित्व तो आवश्यक था। इसपर भी मार्ग निकाला गया और घग्गर-हक्का नदी इस में उपयुक्त सिद्ध हुई।

१९७० के बाद उपग्रह ध्यायाचित्रों से आज की घग्गर नदी किसी समय बहुत बड़ी थी ऐसा प्रतीत होने लगा। फिर ऐसा दावा किया जाने लगा की, जिस के तीर पर वेद रचे गए वह ऋग्वेद में उल्लेखित लुप्त सरस्वती नदी यानी घग्गर नदी ही है। इस दावे के पीछे एक और कारण यह था की, इस नदी के तीर पर सिंधू संस्कृति के एक हजार से भी अधिक स्थान प्राप्त हुए हैं, जो कि आज के पाकिस्तान में प्राप्त स्थानों की संख्या से कहीं अधिक हैं। घग्गर को यदि सरस्वती माना जाए तो न केवल सरस्वती नदी का प्रश्न हल हो जाता था, बल्कि उस संस्कृति पर वैदिकों का वर्चस्व भी सिद्ध करना सुलभ हो जाता था। स्वाभाविक रूप से अनेक विद्वान लुप्त सरस्वती नदी मिलने का दावा करने लगे। वास्तव में सर ऑरिल स्टीन तथा के. एन. दीक्षित इन्होंने १९४० के आसपास ऐसा दावा किया था किन्तु उस समय आक्रामक आर्य सिद्धान्त के नशे में चूर तथा सिंधू संस्कृति की प्रगल्भता को समझने में अक्षम वैदिकों को यह बात समझ में नहीं आई।

घग्गर नदी को सरस्वती सिद्ध करने के ये प्रयास विज्ञान ने परास्त किए। आधुनिक तकनीकों के साथ घग्गर नदी के प्रत्यक्ष तल में तथा उसकी उपनदीयों में जो भूवैज्ञानिकी परीक्षण किए गए, उनके अनुसार यह नदी कभी भी ऋग्वेद में वर्णित बड़ी, बारहमासी, हिमालय से उच्चलती-कूदती आई नदीतमे या अंबीतमे सरस्वतीसमान नहीं थी। वह एक सामान्य नदी थी जो वर्षाजिल पर निर्भर थी। ईसापूर्व १७५० में जलवायमान बदलने के कारण वर्षा में कमी आई और यह नदी सिकुड़ती गई। इसी कारण फिर सिंधू संस्कृति के लोगों ने अपने बसने की पद्धति बदल दी। भू-पर्यावरण वैज्ञानिक तथा पुरातत्त्वविदों ने भूवैज्ञानिक अनुसंधान के निरीक्षणों के आधार से यह सिद्ध किया है। इसलिए, आज की घग्गर यानी वेदकाल की सरस्वती नदी होने का दावा निराधार सिद्ध होता है।⁴

इस भूगर्भवैज्ञानिक अनुसंधान को दुर्लक्षित करते हुए मायकल डैनिनो ने ‘The Lost River: On the Trail of Sarasvati’ यह पुस्तक लिखी। आर्यों को स्थानीय सिद्ध करने में कई लोग सम्मिलित थे। इन में एक महत्वपूर्ण नाम है श्रीकांत तलगेरी। उन्होंने कथन किया कि कैसे वैदिक आर्य (भरत टोली के व उसमें पुरु गुट के) ही ऋग्वेद के रचयिता हैं और कैसे वे भारत (हरयाणा) से क्रमागत रूप से ईरान गए और वहां से युरोप गए, जहां जाकर उन्होंने आर्य भाषा एवं संस्कृति का प्रसार किया। उनकी दृष्टि से ईरानी लोग भी भारतीय ही हैं और वे लोग अनु नामक टोली के थे ऐसा उनका दावा है।⁵ विशाल अगरवाल, कल्याण रमन आदि भारतीय विद्वान ही नहीं, बल्कि निकोलस कज्जान भी उनकी पुष्टि के लिए आगे आए। इन में कज्जान का सिद्धान्त तलगेरी से मेल नहीं खाता। उनका मत है कि, आर्य बाहरी लोग ही थे, किन्तु वे भारत में ईसापूर्व डेढ़ हजार वर्ष पहले नहीं तो ईसापूर्व तीन हजार वर्ष पहले आए। ऋग्वेद चूंकि सिंधूकाल से पहले अस्तित्व में आया, उसमें सिंधू संस्कृति की कई बातों का, जैसे मुद्राएं, स्नानगृह, समुद्रमार्ग से व्यापार, ईटें, धान के भंडार आदि उल्लेख नहीं हैं। आर्य सिंधूपूर्व काल में ही भारत आए और इस कारण वे भारतीय ही हैं।⁶

अब जब वैदिक आर्यों को सिंधू संस्कृति के जनक सिद्ध ही करना है, तो ऋग्वेद का पूर्वमान्य समय ईसापूर्व १५०० पीछे ले जाना आवश्यक था। रथ और अश्व आर्यों के प्रिय थे किन्तु सिंधू संस्कृति में उनके अवशेष बहुत ही विरल हैं और जो हैं, वे उत्तर-सिंधूकाल के हैं जब कि वैदिकों का जीवन अश्वों से व्याप्त था। ऋग्वेद में अश्व की अर्चना करनेवाला एक सूक्त भी है (ऋ. १.१७१)। इस समस्या को सुलझाने के लिए एक नई कल्पना सामने आई।

एस. आर. राव तथा बी. बी. लाल इनके जैसे पुरातत्त्वविद ऐसा दावा करने लगे की सिंधू संस्कृति को अश्व और आरों के रथचक्र ज्ञात थे। नटवर झा और एन. एस. राजाराम इन दोनों ने इस दावे की पुष्टि के लिए सिंधू लिपि पढ़ लेने का दावा तो किया ही, किन्तु संगणकीय छेड़छाड़ कर के एक सींग वाले प्राणी की प्रतिमा अश्व की बनी दी और जोर देकर कहा की चूंकि सिंधू संस्कृति में अश्व थे, वह आर्यों ही ने बसाई थी। यह दावा समाचारपत्रों में छप गया और साथ ही इस लेखकद्वय ने 'The Deciphered Indus Script' (१९९९) यह पुस्तक भी प्रसिद्ध की। इससे विश्वभर में खलबली मच गई क्योंकि इस खोज के कारण सिंधू संस्कृति का इतिहास नए सिरे से लिखना आवश्यक हो गया। इसमें कोई संदेह नहीं की विश्व की एक प्राचीन संस्कृति की लिपि पढ़ना यह एक असामान्य कार्य होता है। किन्तु राजाराम और झा इनका दुर्भाग्य की हार्वर्ड विश्वविद्यालय के इंडॉलॉजिस्ट मायकेल विट्जेल और उनके सहयोगी स्टीव फार्मर इन्होंने 'फन्टलाईन' पत्रिका (अक्टूबर २०००) में एक लेख लिखकर राजाराम और झा की जालसाजी पर प्रकाश डाला। उन्होंने यह सप्रमाण दिखा दिया की कैसे राजाराम और झा ने मूल एक सींगा (युनिकॉर्न) प्राणी की टूटी प्रतिमा को संगणक की सहायता से पूर्ण किया और उसे घोड़े में बदल दिया। इससे भारतीयों की विद्रोहता को विश्व में शर्म से झुकना पड़ा।

इसके पश्चात नए विद्वान (जैसे विशाल अगरवाल, कल्याणरामन आदि) पलट गए और उन्होंने दावा किया कि ऋग्वेद में आरे के पहियों का कहीं कोई उल्लेख ही नहीं है। यह भी स्पष्ट नहीं की वे रथ थे या बैलगाड़ीयां। ऋग्वेद में वर्णित रथ यानी सिंधू संस्कृति की बैलगाड़ीयां भी हो सकती हैं। रथ शब्द का प्रयोग बैलगाड़ीयों के लिए किए जाने के कारण ही सिंधू संस्कृति में रथों के अवशेष नहीं पाए गए हैं इसलिए यह कहना उचित नहीं होगा की यह संस्कृति वैदिक आर्यों की निर्मिती नहीं है। इसी तरह ऋग्वेद में उल्लेखित अश्व शब्द भी उन्होंने बैलों के लिए, न की घोड़ों के लिए है, ऐसा सिद्ध करने का प्रयास किया। अब प्रश्न था लोह इस धातु का। वैदिक साहित्य में 'श्याम अयस' यानी काले रंग का धातु ऐसा लोह का उल्लेख आता है और इसी कारण पहले यह तर्क था की वेद एवं वैदिक साहित्य की निर्मिती लोह युग में हुई थी। किन्तु सिंधू संस्कृति का समय लोह युग से पूर्व का है। विट्जेल ने 'शतपथ ब्राह्मण' में श्याम-अयस शब्द के अस्तित्व के कारण और यह शब्द लोहे के लिए होने के कारण यह ग्रन्थ ईसापूर्व ५०० में लिखा गया होगा ऐसा दावा किया था। अगरवाल ने प्रति दावा किया की, श्याम-अयस यानी लोहा है ही नहीं और शतपथ ब्राह्मण लोहयुग में नहीं बल्कि उससे बहुत पहले लिखा गया है।⁷ संक्षिप्त में कहा जाए तो, ऋग्वेद सिंधू संस्कृतिपूर्व है और ये संस्कृति वैदिक आर्यों की ही निर्मिती है, ऐसा सिद्ध करने का प्रयास किया गया और उसी उद्देश्य से वैदिक संज्ञाओं के नए अर्थ लगाए गए।

युरोपियन सिद्धान्तक तथापि अश्व और रथों के अङ्गोनोवा और अन्यत्र प्राप्त अवशेषों से आर्यों के स्थानांतरण के नक्शे बनाते रहे। अब इसी उद्देश्य से आनुवंशिक विज्ञान का सहारा लिया जा रहा है। इस समय वास्तव में इस मत को वैज्ञानिक रूप से परखना आवश्यक है कि, विस्थापन के कारण भाषाएं (केवल कुछ शब्द या संज्ञा नहीं) एक स्थान से दूसरे स्थान गईं। शब्द/संज्ञाओं के प्रसार के लिए लोगों के स्थानांतरण की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु इंडो-युरोपियन भाषा विशेषज्ञों ने केवल इस बात पर ध्यान दिया कि, ऋग्वेद (और अवेस्ता) में रथ एवं अश्वों का उल्लेख है इसका अर्थ है सब से पहले अश्वों को पालतू बनानेवाले तथा रथ का आविष्कार करनेवाले आर्य ही थे। इसी धारणा के साथ फिर उत्खननों में जहां-जहां भी अश्वों तथा रथों के अवशेष प्राप्त हुए वहां आर्यों का अस्तित्व माना। अङ्गोनोवा में अश्वों की रथसहित सब से प्राचीन कई दफनस्थल (ईसापूर्व १८००) प्राप्त हुए इस कारण टी. बरो, राजेश कोच्चर आदि ने ऐसा कहा की, आर्यों का मूलस्थान यहीं अथवा आसपास कहीं हुआ होगा और आगे चलकर दो या तीन कालखंडों में उनका विस्थापन हुआ। इसके पीछे

उद्देश्य यह सिद्ध करना था की, युरो-भारतीय भाषा एवं संस्कृति के निर्माता आर्य लोग थे, न की सेमेटिक लोग। इसी सिद्धान्त के आधार से इंडो-युरोपियन भाषा बोलनेवाले लोगों का सिंधू संस्कृति के साथ दूर-दूर से कोई संबंध प्रस्थापित नहीं होता। फिर भी, इस सिद्धान्त को मानना आवश्यक नहीं है क्योंकि इसका उगम वर्चस्ववाद में है शुद्ध वैज्ञानिक कथन में नहीं, इस बात को अनदेखा नहीं किया जा सकता।

तथापि, कुछ चुनिंदा युरोपियन विद्वान इस विवाद की ओर ध्यान न देते हुए उत्खननों में सामने आनेवाले प्रमाणों के आधार से अपने मतों में संशोधन कर रहे थे। इन में एडविन ब्रायंट, केनोयेर और शाफर जैसे विद्वान अग्रणी कहे जा सकते हैं। केनोयेर ने उत्खनित प्रमाणों से यह सिद्ध किया कि, भारत में ईसापूर्व सात हजार वर्षों से कृषि, गृह रचना, खाद्य पद्धति आदि में एक अखंडित प्रवाह दिखाई देता है।⁸

इस कारण कुछ आर्य आक्रमण या स्थानांतरवादी इंडो-युरोपियन विद्वानों को कठिनाई उत्पन्न हुई, किन्तु वे कहते रहे की, भले ही इंडो-युरोपियनों का भारत में बड़ी संख्या में आगमन ना हुआ हो, वे धीरे-धीरे और कम संख्या में (ट्रिकल डाऊन सिद्धान्त) आते रहे होंगे और इसी से आर्य भाषाएं (उत्तर) भारत में फैली होंगी। वास्तव में अब उनके लिए आर्यों के प्रभाव के सिद्धान्त का साधन केवल भाषा ही रह गया था। वंशाणु (जीन) के आधार पर व्यक्ति की भाषा का बोध नहीं होता, फिर भी इस संबंध में आनुवंशिक विज्ञान का आधार लिया गया। इसलिए हमें यह आवश्यक हो गया है कि, हम सिंधू संस्कृति और इंडो-युरोपियन भाषाओं के सिद्धान्त की चर्चा करें।

भारतीय विद्वान सिंधू संस्कृति के उत्खनित प्रमाणों को ठीक से समझे बिना अपने ‘भारतीय आर्य’ सिद्धान्त को आगे चलाते रहे। वास्तव में ऋग्वेद में सिंधू संस्कृति की किसी भी विशेषता का कोई उल्लेख नहीं है। पक्की ईंटें, जलनिःसारण व्यवस्था, नगररचना, संरक्षक दीवारें, धान के भंडार, सार्वजनिक स्थानगृह, घर के भीतर के कुएं, चिन्हांकित मुद्राएं, सुनियोजित दफनभूमी, योग, शिव, मातृपूजन, अलंकार निर्माण ऐसी किसी भी बात का ऋग्वेद में उल्लेख नहीं है। इन विद्वानों ने इस तथ्य की ओर सुविधाजनक ढंग से दुर्लक्ष किया है। जिस प्रकार भारत में किसी भी नए लोगों का एक ही समय बड़ी संख्या में आगमन नहीं हुआ, उसी प्रकार ऐसा कोई निर्गमन भी नहीं हुआ। ऐसा आगमन भले ही असंभव नहीं था, इन कथित इंडो-युरोपियन लोगों को इस तरह से अचानक और एक साथ अपना स्थान छोड़कर किसी अन्य स्थान पर जाने की आवश्यकता क्यों उत्पन्न हुई, इस प्रश्न का उत्तर कोई भी विद्वान आजतक नहीं दे पाया है। किसी भी समाज के अचानक स्थानांतर के पीछे अकाल, महामारी, भूकम्प जैसी कोई प्राकृतिक विपदा का कारण हो सकता है किन्तु इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं मिलता। दूसरे, इन कारणों से स्थानांतर करनेवाले लोग प्रायः अपत्ति के समाप्त होने पर अपने मूलस्थान को लौटना चाहते हैं और इन इंडो-युरोपियन लोगों के बारे में ऐसा भी कुछ हुआ दिखाई नहीं देता। यदि हम आक्रमण का उद्देश्य माने तो कोई भी आक्रामक समाज अपनी सारी जनता साथ ले कर आक्रमण पर नहीं जाते, वे हमेशा केवल अपने अल्पसंख्य योद्धाओं को ले कर जाते हैं। ऐसे में वे स्थानीय संस्कृति की भाषा में बदलाव लाने जितना प्रभाव नहीं डाल सकते।

यदि ऐसा कोई आक्रमण या स्थानांतरण वास्तव में हुआ था, तो उन लोगों ने स्थानीय लोगों के साथ संवाद कैसे किया होगा? क्या उन्होंने स्थानीय भाषा सीख ली या स्थानीय लोगों को अपनी भाषा सिखाई? स्थानीय लोगों के साथ व्यवहार करने के लिए जितना उनमें से कुछ लोगों को अपनी भाषा सिखाना आवश्यक होता है उतना ही उनकी भाषा स्वयं सीखना। किन्तु यह बात सार्वत्रिक नहीं हो सकती क्योंकि स्थानीय लोग बहुसंख्यक होने के कारण उनपर कोई भी भाषा लादना असंभव होता है। वास्तव में स्थानीयों की भाषा का प्रभाव स्थानांतरीत लोगों पर अधिक पड़ता है। इसका उलट नहीं होता। ऐसे में स्वभाषा श्रेष्ठ होने का चाहे जितना गर्व हो, समय के साथ वह नष्ट हो जाता है।

आर्य भारतीय थे और उन्होंने भारत से बाहर जाकर आर्य संस्कृति और भाषा का प्रसार किया यह सिद्धान्त भी उतना ही बेबुनियाद है। यह वास्तव है कि, अवेस्ता तथा ऋग्वेद में भाषा और धार्मिक कल्पना में अभूतपूर्व समानता है। इन दोनों में वर्णित भूगोल भी काफी हद तक समान हैं। भाषा, संस्कृति, देवता-असुर

संकल्पना इन में कल्पनातीत समानता है। दोनों धर्मों को एकदूसरे के व्यक्ति भी ज्ञात थे, यह भी स्पष्ट है। इस कारण इस प्रश्न को सुलझाने के लिए तलगेरी कहते हैं, भारतीय पुरु टोली के आर्य जब विस्तार हेतु ईरान में आए, तब उनसे पहले आ चुके भारतीय अनु टोली के लोग वहां बसे थे। अवेस्ता की रचना शुरू होने से पहले ऋग्वेद की रचना लगभग आधे से अधिक हो चुकी थी तब हुई। इसका अर्थ ऋग्वेद अवेस्ता से पहले रचा गया। यह सिद्ध करने के लिए उन्होंने ऋग्वेद के मंडलों का कालानुक्रम नए सिरे से बनाया। इसके लिए जिज्ञासू व्यक्ति उनकी लिखी 'Rig Veda: A Historical Analysis' और 'The Rig Veda and Avesta: The Final Evidence' ये दो पुस्तकें अवश्य पढ़ें।

तलगेरी का कथन असत्य इसलिए है कि, जिस प्रकार भारत में ईसापूर्व सात हजार वर्षों से नए लोग बड़ी संख्या में कभी आए नहीं हैं उसी प्रकार यहां से विस्थापित हो कर वे ईरान, अफगानिस्थान आदि स्थानों पर जाने के कोई भौतिक प्रमाण भी नहीं हैं। व्यापार के लिए सिंधू संस्कृति के लोग अन्य स्थानों को (मेसोपोटेमिया और ईजिप) जाते थे और वहां के लोग भी इसी कारण यहां आया करते थे। मध्य आशिया के साथ सिंधू संस्कृति का संबंध व्यापार के रूप में था। वैकिट्रिया-मार्जियाना आर्कियॉलॉजिकल काम्प्लेक्स (बीएमएसी) के नाम से जाने जानेवाली संस्कृति उत्तरपूर्व ईरान तथा उत्तर अफगानिस्थान आदि भागों में किए गए उत्खननों में प्राप्त हुई है। इसका समय ईसापूर्व २३०० से ईसापूर्व १७०० है। वहां सिंधू लिपि एवं हाथी की प्रतिमा से युक्त मुद्राएं गोणुर डेपे इस स्थान पर प्राप्त हुई हैं। साथ ही उस संस्कृति की स्वतन्त्र मुद्राएं भी प्राप्त हुई हैं। इसी संस्कृति की काफी वस्तुएं सिंधू घाटी में भी प्राप्त हुई हैं।⁹ इस संस्कृति का स्टेपे के लोगों के साथ संपर्क था, जो ईसापूर्व २००० के आसपास ढूँढ हुआ था। स्टेपे के लोग अमु दरिया नदी के त्रिभुज प्रदेश में उस समय खेती कर रहे थे, यानी स्थिर हो चुके थे।¹⁰ फिर प्रश्न यह उठता है कि, जो लोग स्थिर हो चुके हो, वे स्थानांतर क्यों करेंगे? वैसे भी बीएमएसी संस्कृति उस समय वैभव के शिखर पर पहुंच चुकी थी। उसका निर्माण स्टेपे से आए स्थानांतरीत लोगोंने ही किया था, इस का कोई प्रमाण नहीं है। इसका अर्थ केवल यही होता है कि, तत्कालीन अधिकतम संस्कृतियां स्थिर हो चुकी थीं और उनमें पारस्परिक व्यापार एवं सांस्कृतिक आदानप्रदान हो रहा था। कोई एक जनसमुदाय पूर्ण रूप से विस्थापित होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। वैदिक धर्म भारत में नहीं बल्कि दक्षिण अफगानिस्थान के हेल्मंड घाटी में (अवेस्ता में जिस हरहवैती नदी का उल्लेख है उस सरस्वती नदी की घाटी में) स्थापन हुआ। इस धर्म के कुछ लोग भारत में कैसे आए इसका मिथकात्मक प्रमाण 'शतपथ ब्राह्मण' में (श. ब्रा. १.४.१, १५-१७) दिया गया है। किन्तु घग्गर यानी सरस्वती इस अवैज्ञानिक आग्रह के कारण इस ओर भी ध्यान नहीं दिया गया।

इस वास्तविकता के विपरित कुछ युरोप-केन्द्रित एवं वैदिक-केन्द्रित विद्वान अपनी जिद पर अड़े हैं। इन में पूर्ण रूप से युरोपियन विद्वानों की और संभवतः इसीलिए वैदिक विद्वानों की भी सांस्कृतिक वर्चस्ववाद की मानसिकता स्पष्ट होती है। यहां इस और ध्यान नहीं दिया गया है की, वे भाषाविज्ञान और पुरातत्त्व-विज्ञान का सुविधाजनक अर्थ निकाल रहे हैं और यह बात अनुचित है। किसी दूसरे प्रगल्भ संस्कृति पर अपना हक प्रस्थापित करने के प्रयास में हम अपनी संस्कृति के इतिहास को हानि पहुंचाते हैं, यह जानना आवश्यक है। जिस प्रकार सिंधू संस्कृति पर अपना हक सिद्ध करने का प्रयास अनुचित था उसी प्रकार उस बहाने भारतीय भाषाओं का जनकत्व भी अनायास ही अपने पास लेने का प्रयास उसी वर्चस्ववादी वृत्ति का निर्देशक है। यही कारण है कि, प्राकृत भाषाओं का प्रश्न अभी तक हल नहीं हो सका है और आज भी यही सिद्धान्त प्रचलित है कि, वैदिक भाषा प्राकृत भाषाओं की जननी है और वैदिक संस्कृत भाषा यह एक प्राचीन इंडो-युरोपियन भाषा है तथा प्राकृत भाषाएं मध्य-इंडो-युरोपियन भाषाएं हैं। प्राकृत भाषा के विशेषज्ञ भी इस मान्यता से पूर्ण रूप से मुक्त नहीं कहे जा सकते। इस कारण हमें इस विषय में अधिक गहराई तक जा कर इस का हल ढूँढ़ना आवश्यक है।

¹ Biographies of Words and Home of the Aryas, F. Maxmuller, Kessinger Publishing House, 1888, reprint 2004, pp 120

-
- ² Myth of the 20th Century: An Evaluation of the Spiritual-Intellectual Confrontations of our Age, Alfred Rosenberg, Invictus Books, Reprint 2001
- ³ The unholy alliance between India and the new global wave of white supremacy, Carol Schaeffer, The Caravan (2018), Alt-Reich, pp 4
- ⁴ U-Pb Zircon dating evidence for a Pleistocene Sarasvati River and capture of the Yamuna River, Peter D. Cliff et al., published in 'Geology' (Geological Society of America) 40(3), 211-214 (Published online in September 2011)
- ⁵ The Rig Veda and Avesta: The Final Evidence, Shrikant Talageri, Aditya Prakashan, 2008
- ⁶ Rig Veda is pre-Harappan, Nocholas Kazanas, June 2006. Available online at-
<http://www.jstor.org/discover/10.2307/41692083?sid=21105802145531&uid=70&uid=3738256&uid=2129&uid=2>
- ⁷ "A Reply to Michael Witzel's 'Ein Fremdling im Rgveda'", by Vishal Agarwal, published online on 11 August 2003
- ⁸ "Culture changes during the Late Harappan period at Harappa: new insights on Vedic Aryan issue", by Jonathan Mark Kenoyer in "The Indo-Aryan Controversy: Evidence and Inference in Indian History", edited by Edwin Bryant, Laurie Patton, Pub. Routledge, 2005, page 31-40
- ⁹ "Archaeology and Language: The Indo-Iranians", Lamberg-Karlovsky, C. C. Current Anthropology. 43 (1): 2002, pp. 63-88
- ¹⁰ The Making of Bronze Age Eurasia, Kohl, Philip L., Cambridge University Press, 2007, Chapter 5

तीन

सिंधू लिपि एवं इस संस्कृति की भाषा

सिंधू-घग्गर घाटीयों में हुए उत्खननों में अनगिनत लिप्यांकित व चिन्हांकित मुद्राएं प्राप्त हुई हैं। धौलावीरा में तो ग्रामनाम का एक नामफलक भी प्राप्त हुआ है। सिंधू लिपि पढ़ने के कई प्रयास आजतक किए गए हैं। कईयों ने इसमें सफल होने के दावे भी किए हैं। आर्य आक्रमण सिद्धान्त माननेवाले लोगों ने इस लिपि में द्रविड़ भाषा होने का अनुमान लगाकर इसका अर्थ लगाने का प्रयास किया। आक्रामक आर्यों ने सिंधू संस्कृति के द्रविड़ लोगों को दक्षिण दिशा में भगा दिया ऐसा इस आर्य आक्रमण सिद्धान्त का मानना है। इस सिद्धान्त का काफी बड़ा प्रभाव अभी तक अनेकों, खास कर दक्षिणी, विद्वानों पर कायम है। इसके अतिरिक्त, क्रग्वेद में कुछ द्रविड़ी शब्द उधार में लिए जाने का भी एक दावा होने के कारण यह सत्य मानना स्वाभाविक था। सिंधू संस्कृति की लिपि को मूलतः द्रविड़ मान कर अस्को पारपोला व इरावथम महादेवन इन्होंने सिंधू मुद्राओं पर उकेरे लिपि-चिन्हों में द्रविड़ पुराकथा खोजने का काफी समय तक प्रयास किया।¹ उनका यह मत सर्वमान्य नहीं हुआ। वैदिक भाषा में द्रविड़ शब्द रीसने के कारण पूर्ण रूप से भिन्न हैं। दक्षिणी संस्कृति सिंधू संस्कृति से पूर्णतया भिन्न एवं स्वतन्त्र है। उसपर सिंधू संस्कृति की छाप नहीं है।

वैदिकवादी विद्वान भी इस कार्य में पीछे नहीं थे। सिंधू-घग्गर संस्कृति वैदिक आर्यों की ही निर्मिती है ऐसा कुल कथन होने के कारण उन्होंने न केवल उसकी लिपि को पढ़ लेने का दावा किया बल्कि उस में वैदिक संस्कृत होने का भी दावा किया। एन. एस. राजाराम और एन. झा इन्होंने इसी दावे के साथ एक ग्रन्थ भी लिख दिया। उसमें उन्होंने २००० मुद्राओं को पढ़ने का दावा करते हुए कहा कि, कुछ मुद्राओं पर वैदिक राजा सुदास, यदु, पुरु, कुत्स, राम आदि का और षडागमों का भी उल्लेख है और बहुसंख्य मुद्राओं पर नदीयों के तो कुछ एक पर सामान्य ऐहिक उल्लेख हैं।²

यह बात यहीं नहीं रुकी। एक निवृत्त पुरातत्ववेत्ता एम. व्ही. कृष्णराव इन्होंने भी इस लिपि को पढ़ लेने का दावा किया। यह दावा विलक्षण था, जिस में उन्होंने कहा कि, भगवान राम का जन्म अयोध्या में नहीं बल्कि हरियाणा में हुआ था, उन्होंने वैविलोन पर आक्रमण किया और हम्मुराबी को युद्ध में पराजित कर उसे मार दिया। सिंधू मुद्रा पढ़कर उन्होंने किए दावे के अनुसार हम्मुराबी ही रावण था।³

तथापि मालती शेंडगे इन्होंने एक सम्पूर्णतया अलग सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार सिंधू संस्कृति यह असूर संस्कृति थी। उनके कहने का सारांश यह था कि असीरियन इस एक पुरातन असूर संस्कृति के लोगों ने यहां आ कर सिंधू संस्कृति का निर्माण किया होगा और इसलिए, सिंधू मुद्राओं की लिपि में व्यक्त होनेवाली भाषा अङ्गाडियन होगी।⁴

मायकेल विट्जेल और स्टीव्ह फार्मर इन्होंने यद्यपि लिपि पढ़ने का दावा नहीं किया, उन्होंने उस संबंध में अपना मत व्यक्त किया। उनके अनुसार त्यांच्या मते सिंधू मुद्राओं की लिपि यानी कोई भाषा नहीं बल्कि धार्मिक, राजकीय कार्यों से संबंधित स्मृतीचिन्ह हैं।⁵ इन चिन्हों द्वारा क्या अभिव्यक्त होता है यह कहना असंभव है, ऐसा उनके संपूर्ण कथन का निचोड़ है।

संगणक की सहायता से भी सिंधू लिपि को स्पष्ट करने का प्रयास किया जा चुका है और अभी तक इसमें कोई सफलता प्राप्त नहीं हुई है क्योंकि, अन्य कोई द्वैभाषिक लेख अभी प्राप्त नहीं हुआ है। इसके अतिरिक्त, सिंधू मुद्राओं पर उकेरे अक्षरों की संख्या कम है। आज तक स्वतन्त्र प्रकार के ४१७ चिन्ह अभिलिखित किए गए हैं। किसी भी एक मुद्रा पर कम से कम एक और अधिकातम २६ चिन्ह हैं। औसत एक मुद्रा पर पांच चिन्ह पाए जाते

हैं। चिन्हों की संख्या अल्प होने के कारण कौन सा चिन्ह किस धर्म का निर्देश करता है, इसका पता अभी तक नहीं चला है। इसलिए स्वाभाविक रूप से भाषा का भी बोध नहीं हुआ है। प्रस्तुत लेखकसहित कईयों का मत है कि, सिंधू मुद्राओं पर अधिकतर निर्यात होनेवाले माल का नाम, संख्या/वजन तथा मूल्य उकेरे गए हैं और मुद्राओं पर उकेरी प्रतिमा माल के प्रेषक व्यापारी/श्रेणि का व्यापार चिन्ह है। मुद्राएं जहां पाई गईं वे स्थान, लोथल बंदरगाहसहित, मुख्य उत्पादन एवं व्यापार केन्द्र होने के कारण यह विचार बलिष्ठ होता जा रहा है। इसलिए, यदि यह लिपि हम पढ़ भी पाएं, तो उस समय किस चीज का व्यापार किस मूल्य से हो रहा था इसके परे कुछ खास जानकारी हमें प्राप्त नहीं होगी।

यह चिन्हलिपी अथवा चित्रलिपी भारतीयों की ही स्वतन्त्र खोज थी या वह कहीं से आयात हुई और फिर सुधारित रूप में उसका प्रयोग किया गया, इस बात पर भी काफी चर्चा हुई है। राज पृथी के मत से इजिप्शियन या चिनी चित्रलिपी या फिर सुमेरियन चिन्हलिपी के साथ प्रस्तुत लिपि की सादृश्यता मात्र सतही है और सिंधू लिपि इसी मिट्टी में जन्मी है।

आनुवंशिक विज्ञान का आधार

भाषा एवं लिपि को ले कर काफी विचारविमर्श हो चुका है और आज भी इसकी चर्चा उतने ही ताव से की जाती है। राखीगढ़ी यहां प्राप्त मानवीय कंकालों से वंशाणु (जीन) प्राप्त कर के उनके परीक्षण के निष्कर्ष ‘जनल ऑफ सेल सायंस’ इस प्रतिष्ठित पत्रिका के सितम्बर २०१९ के संस्करण में प्रकाशित किए गए थे। मूल शोधनिवंध के निष्कर्ष घोषित करने के बजाय “आर्य मूलतः भारतीय थे... आर्य आक्रमण सिद्धान्त अनुचित... हड्डपा संस्कृति के लोग संस्कृत भाषा बोलते थे... उनकी संस्कृति वैदिक थी... आज के भारतीयों में भी वही वंशाणु आए हैं और इन लोगों की आनुवंशिकी स्वतन्त्र है। विदेशीयों का उसपर प्रभाव नगण्य है,” ऐसे दावे डेक्कन कॉलेज के कुलगुरु एवं हरियाणा के राखीगढ़ी उत्खनन के प्रमुख डा. वसंत शिंदे इन्होंने किए हैं। सभी समाचारपत्रों द्वारा इस बात को प्रसिद्धी दी जाने के कारण मूल शोधनिवंध के डेविड राइश आदि, तथा शिंदे आदि के निष्कर्ष जनसामान्य तक पहुंच ही नहीं पाए। इन दोनों ही शोधनिवंधों में डा. शिंदे प्रमुख सहलेखक होने के कारण उनके द्वारा किए गए दावे सत्य ही होने का आभास उत्पन्न होना स्वाभाविक था। किसी भी प्रकार से सिंधू संस्कृति को वैदिक सिद्ध करने की और स्वाभाविक रूप से इस संस्कृति की भाषा को भी वैदिक संस्कृत ही सिद्ध करने की दृष्टिवृत्ति यहां भी दिखाई देती है। वास्तव में इन दो शोधनिवंधों में डा. वसंत शिंदे ने या उनके सहयोगी लेखकों ने ऐसा कोई भी दावा किया नहीं है। अब स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठेगा की, ऐसे में यह दोहरी तथा भ्रामक भूमिका लेने का कारण क्या हो सकता है। इससे यह तो स्पष्ट है कि, इससे सिंधू संस्कृति की भाषा की समस्या हल नहीं होगी।

सिंधू संस्कृति की व्यासी बहुत विशाल थी। लगभग साढ़े बारह लाख वर्ग किलोमीटर्स में वह फैली थी। इसी समय के अवशेष अब गंगा की धाटी तथा दक्षिण में भी प्राप्त होने के कारण यह व्यासी और भी अधिक थी ऐसा कहना होगा। आज के कच्छ (गुजरात), राजस्थान, हरियाना, पंजाब, सिंध, पञ्चुनीस्थान से बलुचिस्तान तक इस संस्कृति का विस्तार था। आज इन सभी प्रदेशों की अपनी प्रादेशिक किन्तु समकक्ष भाषाएँ हैं। सिंधू काल में भी यही स्थिति होनी चाहिए क्योंकि प्रादेशिक संदर्भ अपरिहार्य रूप से हर भाषा को होते ही हैं। प्रादेशिक भाषाएं यदि स्वतन्त्र मार्ग अपनाती हैं तो अपने-अपने प्रादेशिक भूगोल/भूगर्भ वैज्ञानिक तथा पर्यावरणीय विशेषताओं के कारण। इसलिए, यद्यपि सिंधू संस्कृति एकजिनसी है, उसकी बनावट में हमें

प्रादेशिक विशेषताओं का दर्शन होता है। कालीबंगन की नगररचना, गृहरचना तथा उन में उपयोग में लाई गई सामग्री और हड्डपा में उपयोग में लाई गई सामग्री इन में लक्षणीय अंतर है। हम यदि दृढ़ता से कह सकते हैं, कि भाषा भी इसी तरह प्रादेशिक संदर्भ प्राप्त करती है, तो इसके पीछे यही कारण है।

विश्व के कई विद्वानों ने सिंधू संस्कृति की भाषा के संबंध में जो मत व्यक्त किए हैं उन्हें हमने संक्षिप्त में देखा। उनमें एकमत्य बिल्कुल ही नहीं है। साथ ही हमने यह भी देखा कि कैसे विशेष रूप में वैदिकवादी विद्वानों ने सिंधू संस्कृति की भाषा वैदिक ही सिद्ध करने हेतु छल का भी आधार लिया है। युरोपियन विद्वानों द्वारा यह सिद्ध करने के प्रयास जारी हैं कि, आर्य-भाषागुट की कल्पना कर के स्थानीय (भारतीय) लोग आर्य भाषाओं से प्रभावित होने के कारण सन १२०० के पश्चात उनकी वंशाणु-संरचना भी प्रभावित हुई और उनकी भाषाएं भी इंडो-युरोपियन भाषागुट की बनीं। आर्य भारत में आने से पूर्व यहां के लोग आस्ट्रिक, भूमध्य सागरी अथवा द्रविड़ गुटों की पुराभाषाएं बोलते थे, ऐसा भी एक तर्क है। इन मतों का गुह्य अर्थ इतना ही है कि यद्यपि आज ऊपरिनिर्दिष्ट भाषागुट के कुछ शब्द संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं में अवशिष्ट रहे हैं स्थानीय भाषाएं गायब हुई और उनका स्थान इंडो-युरोपियन भाषाओं ने ली। स्थानीय लोग वैदिक भाषा सुचारू रूप से आत्मसात न कर पाने के कारण जो मिश्र बोलीयां निर्माण हुई वे ही प्राकृत हैं और इसीलिए उन्हें मिडल-इंडो-युरोपियन भाषा यह संज्ञा दी जाती है।

किन्तु इस में एक महत्वपूर्ण यह है कि, इन इंडो-युरोपियन भाषा बोलनेवालों लोगों का मूल स्थान क्या था? आजतक इस प्रश्न का सर्वमान्य उत्तर कोई खोज नहीं पाया है। इसलिए, विभिन्न पारस्परविरोधी सिद्धान्त, उनके समर्थक तथा उनके विरोधक विश्वभर में बड़ी संख्या में हैं। मूल स्थान चाहे जो हो, अधिकांश लोगों का इस बारे में एकमत है कि, विश्वभर की लगभग चार-सौ भाषाएं इंडो-युरोपियन समुह से हैं और वे उनके बोलनेवालों के स्थानांतर के कारण फैली हैं। इस के लिए आनुवंशिक विज्ञान का भी उपयोग किया गया है। वैदिक आर्य भारत में संभवतः ईसापूर्व १५०० से ईसापूर्व १२०० इस समयावधी में आए यह मत विश्व स्तर पर विद्वानों में सर्वमान्य है। अब आनुवंशिक विज्ञान द्वारा पुरातन कंकालों के किए गए परीक्षणों के आधारपर भी इस की पुष्टि की जाती है।

इसे स्वीकारने पर भी कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न सामने आते हैं। जैसे, ऋग्वेद की रचना सिंधू काल (ईसापूर्व ३३०० से ईसापूर्व १५००) की नहीं है और वह भारत में भी हुई नहीं है, यह बात स्पष्ट है। इस कारण सिंधूकालीन भाषा संस्कृत अथवा संस्कृतोद्भव होने की संभावना नहीं के बराबर है। ये भाषाएं वैदिक भाषा से अलग ही थी। किन्तु फिर भी प्राकृत भाषा संस्कृतोद्भव होने की जो मान्यता है, उसका सत्यापन करने के लिए हम सविस्तार चर्चा करेंगे। साथ ही, हम यह भी देखेंगे कि, क्या आर्यों का स्थानांतर और देशी भाषाएं इन में कोई आंतरिक संबंध है? हमें इस बातपर भी ध्यान देना होगा कि, आनुवंशिक विज्ञान के वैज्ञानिक डेविल राइश इत्यादी अपने सन २०१९ में प्रकाशित निबंध के परिशिष्ट में कहते हैं ... (राखीगढ़ी कंकालों के वंशाणुओं के परीक्षण के पश्चात भी) पुरा इंडो-युरोपियन भाषाएं बोलनेवालों के मूल स्थान का प्रश्न अभी भी अनुत्तरीत है। उनका सुझाव है कि, पूर्व स्टेपे के और वंशाणु नमूनों के परीक्षण के पश्चात ही इंडो-युरोपियन भाषाओं का इतिहास और हमारे वंशाणुओं का संबंध जोड़ना संभव होगा। इसका अर्थ है, अभी तक वंशाणु और इंडो-युरोपियन भाषा प्रसार का संबंध निर्विवाद रूप से जोड़ना संभव नहीं हुआ है।

आर्य स्थानांतर सिद्धान्त की समस्या

आर्य आक्रमण सिद्धान्त का स्थान समय के साथ आर्य स्थानांतर सिद्धान्त ने लिया और आगे उसके स्थान पर इंडो-युरोपियन भाषाएं बोलनेवाले मूल लोगों के स्थानांतरण के सिद्धान्त आ गया। यह स्थानांतर पृथक समय पर (कम से कम तीन बार) हुआ ऐसा भी कहा जाने लगा। यह मूल स्थान पॉन्टियाक स्टेपे के सिन्थास्ता संस्कृति, याम्नाया संस्कृति, अङ्गोनोवो संस्कृति, कुर्गन संस्कृति, वोल्वा-उरल संस्कृति, मध्य-पूर्व की संस्कृति, बोटाई संस्कृति इत्यादि कई स्थानों से कोई एक रहा होगा इस तर्क के साथ आर्यों के स्थानांतरण के नक्शे तैयार किए गए। वेदों में अश्व तथा रथों के उल्लेख विपुल होने के कारण जहा कहीं अश्वों को पालतू बनाया गया ऐसा हर स्थान और जहां अश्वों की रथसहित दफनभूमियां प्राप्त हुईं वे स्थान पुरा-इंडो-युरोपियन भाषा बोलनेवालों के होंगे ऐसा तर्क इन सिद्धान्तों के पीछे प्रमुख था। स्टेपे यह एक अतिविशाल घासभूमि है जो पूर्व-पश्चिम दिशा में संपूर्ण युरेशिया में फैली हुई है। यद्यपि इस क्षेत्र के युक्रेन तथा रशिया का प्रदेश यही इंडो-युरोपियन लोगों का मूल स्थान होने का तर्क इस समय बलवान हो रहा है, मारिजा गिंबुटास इन्होंने कुर्गन संस्कृति के सिद्धान्त का समर्थन किया है।

किन्तु इस सिद्धान्त के कुछ अनुत्तरीत प्रश्न यानी, आर्य लोग चाहे स्टेपे या अन्य किसी स्थान से हो, उन्होंने अपना मूल स्थान को छोड़कर ईरान के रास्ते योरोप और भारत में स्थानांतर क्यों किया? इन स्थानांतरितों की संख्या सटीक कितनी थी? क्या स्थानांतरित आर्यों का धर्म एक ही था या अनेक? ये लोग एक ही वंश के थे या अनेक? ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो मध्य आशिया में उस समय आर्य कहलानेवाली जनजातियों के अतिरिक्त दास, दस्यु, तुरानी, पर्शियन इत्यादि जातियां भी बसती थीं और उनकी धर्मकल्पनाएं भी विभिन्न थीं। उनकी भाषाओं में भी विविधता होना स्वाभाविक है। ऐसे में यह सिद्धान्त ऐसा क्यों आग्रह से कहता है कि, भारत में केवल आर्य जाति के या इंडो-युरोपियन भाषिक लोग ही आए थे? ऐसा साहसपूर्ण कथन किस आधार से किया जाता है कि, मध्य आशिया में कथित इंडो-युरोपियन भाषाओं के अतिरिक्त अन्य कोई भाषा थी ही नहीं?

आनुवंशिक विज्ञान के निष्कर्षों को माना जाए तो स्थानांतरण केवल पुरुषों ने ही किया, उन्होंने स्त्रियों को अपने साथ नहीं लाया था। इस कारण माता के पक्ष के वंशाणु देसी ही हैं और पिता के पक्ष के वंशाणु स्टेपे मूल से प्रभावित हैं। किन्तु इस सिद्धान्त को नकारते हुए आनुवंशिक वैज्ञानिक डेविड राइश कहते हैं कि, स्थानांतरित लोगों में स्त्रियों तथा पुरुषों की संख्या लगभग समान थी। यदि पहला मुद्दा सत्य है (क्योंकि, कुछ सिद्धान्तकों का दावा है कि, माता से आए वंशाणु निश्चित रूप से भारतीय हैं) तो पीछे छोड़ी गई स्त्रियों का क्या हुआ और उन्हें पीछे क्यों छोड़ा गया? अपनी भाषा एवं संस्कृति यहां के लोगों पर लादने का अवसर उन स्थानांतरितों के कैसे प्राप्त हुआ और यह कब और कैसे हुआ? संजीव सभलोक प्रश्न उपस्थित करते हैं कि, स्त्रियों को इतना दुर्गम मार्ग और अलंघ्य दर्दे पार करना कैसे संभव हुआ होगा? और फिर यदि इन पुरा-इंडो-युरोपियन भाषा बोलनेवालों के भटकते पशुपालक होनेपर एकमत है, तो ये पशुपालक विस्तृत घासभूमि छोड़ युरोप से लेकर भारत तक के अति विशाल प्रदेश में कैसे फैसे और स्थानीयों के वंशाणुओं को किस तरह प्रभावित कर पाए? अन्य शब्दों में, उनकी संख्या कितनी थी? युरोप से भारत तक के विशाल प्रदेश के लोगों पर अपनी भाषा एवं संस्कृति लादने का सामर्थ्य होने के लिए मूल स्टेपे में उनकी जनसंख्या बहुत ही विशाल होनी आवश्यक है। किन्तु यदि हम बोगाज्ञमोय समझौता तथा किक्कुली का साहित्य देखें, तो उनमें केवल कुछ शब्द, नाम और

संज्ञाओं के अतिरिक्त उनकी हुर्रीयन भाषा ही का प्रयोग किया है। वहां इंडो-युरोपियन भाषा का प्रभाव दिखने में क्या समस्या थी? इंडो-युरोपियन भाषा का सिद्धान्त ऐसे कई प्रश्नों के यथेष्ट उत्तर नहीं देता।

आनुवंशिक विज्ञान के बारे में कहा जाए तो आजतक के सभी आनुवंशिक अहवाल और उनके आधार पर निकाले गए निष्कर्ष परस्पर विरोधी हैं ऐसा स्पष्ट दिखाई देता है। फिर भी, भारतीयों में स्टेपे व मध्य आशिया के वंशाणुओं का हिस्सा ०-३०% होने के कारण, स्थानांतर हुआ और इन स्थानांतरीतों द्वारा ही इंडो-युरोपियन भाषा (इंयुभा) भारत में आई इस पर पश्चिमी विद्वानों का एकमत होता है। भारतीय विद्वान जहां तक संभव इस मत के विरोध में जाते हुए भी दिखाई देते हैं। भारतीय लोग स्थानीयों के ही वंशाणु रखते हैं, तात्पर्य आर्य/इंयुभा बोलनेवाले लोगों का मूल भारत ही है, ऐसा कुछ भारतीय विद्वानों का दावा है।

इन दोनों पक्षों ने एक मुद्दे की ओर ध्यान नहीं दिया और वह मुद्दा यानी आनुवंशिक विज्ञान अभी अपनी बाल्यावस्था में है और परीक्षा किए जानेवाले वंशाणु जितने अधिक प्राचीन, उतने ही सदोष इस परीक्षा के निष्कर्ष होते हैं। वंशाणुओं से यद्यपि आनुवंशिकी का ज्ञान हो सकता है, उससे भाषा की जानकारी केवल अनुमानित होती है किन्तु कुछ लोग इसे अनदेखा करते हैं। ऐसे में आनुवंशिक विज्ञान के अनुसार स्टेपे के वंशाणु युरेशिया में पाए जाना यानी किसी एक स्थान पर बसे युरेशिया के लोगों द्वारा ही स्थानांतरण के रूप में इंडो-युरोपियन भाषाओं का प्रसार किया गया, इस निष्कर्ष का वैज्ञानिक आधार क्या है? सतही रूप में कुछ समानता होनेवाली भाषाएं स्वतन्त्र रूप से भी निर्माण हो सकती हैं, इस अवधारणा के साथ किसी वैकल्पिक सिद्धान्त की रचना क्यों नहीं की गई?

आर्य भाषा बोलनेवाले लोगों का स्थानांतर ऐसे कई प्रश्न उपस्थित करता है, जिनका निराकरण करना आवश्यक है, जिसके बिना सिंधू काल में जो भाषाएं बोली जाती थी उनके संबंध में हम कोई तर्क नहीं कर पाएंगे।

मानवी इतिहास में स्थानांतर कोई नई बात नहीं है। यह आज भी होता है। किन्तु भाषा एवं संस्कृति तथा वंशाणुओं को प्रभावित करने के लिए या तो स्थानांतरितों की संख्या स्थानीयों से अधिक होना आवश्यक थी या फिर स्थानांतर करनेवाले लोग आक्रान्ता रहे हो, जिन्होंने स्थानीयों पर दीर्घ समय तक अपनी सत्ता जमा कर रखी होगी तथा उन्होंने दीर्घ समय तक स्थानीय स्त्रियों के साथ यौनसंबंध रखे होंगे। पुरातत्वीय और आनुवंशिक विज्ञान के अनुसार भी देखें, तो भी स्टेपे या मध्य आशिया में भारत से युरोप तक फैलकर वहां की संस्कृति में आमूलाग्र परिवर्तन करने जितनी बड़ी जनसंख्या वहां कभी थी, यह बात किसी पुरातत्वीय अवशेषों से दिखाई नहीं देती। दूसरे, स्थानांतर करने करने के लिए भूकंपादि प्राकृतिक आपत्तियां, अकाल, रोगों का फैलाव ऐसे कई कारण होते हैं किन्तु आपत्ति दूर होने पर लोग प्रायः अपने मूल स्थान पर लौट जाते हैं। स्थानांतरीत लोग वैसे स्थानीयों की मेहरबानी पर निर्भर होने के कारण वे स्थानीयों की संस्कृति में हस्तक्षेप करने का साहस नहीं करते। इसलिए, यद्यपि हम मान लें कि किसी अज्ञात कारण से ऐसा हुआ है, तो यह हस्तक्षेप स्थानीय संस्कृति पर किसी खरोंच से अधिक नहीं होता।

आक्रमण सिद्धान्त यदि मानें, तो उसे दृढ़ता प्रदान करने के लिए एक भी ग्रान्थिक अथवा पुरातत्वीय प्रमाण प्राप्त नहीं हुआ है। कुछ गुट वैदिक कालपश्चात भारत में आने के कुछ प्रमाण हैं किन्तु उनकी संख्या अत्यल्प है। वे लोग यहां शरणार्थी या धर्मप्रचारक के रूप में आए थे, आक्रामक बनकर नहीं। सिंधू नदी की धाटी में आनेपर उन्हें शुरू में तो दलदल में ही रहना पड़ा था (शतपथ ब्राह्मण १.४.१, १४-१७)। यद्यपि वैदिकों का आक्रमण नहीं हुआ था, पश्चिमोत्तर भारत पर अन्य आक्रमण अवश्य हुए थे। ज्ञात इतिहास के पहले आक्रमण के रूप में हम ईसापूर्व चौथी शताब्दी में हुए अलेक्जांडर के आक्रमण को देख सकते हैं। यह आक्रमण पश्चिमोत्तर

भारत तक ही सीमित था। और वैसे भी वे लोग अंततः यहां से लौट गए। शक, हुण, कुशाण तथा मध्य युग में मुघल (वास्तविक वे तुर्की थे) आक्रमण हमें ज्ञात हैं। इन जातियों ने भारत में दीर्घ समय तक राज किया किन्तु इन में से शक, हुण, कुशाणादि टोलीयां यहां के समाज में घुलमिल गई। आनुवांशिक दृष्टि से उनका प्रभाव पड़ना संभव था, अपितु भाषा और संस्कृति पर कुछ आदानप्रदान से परे अधिक प्रभाव वे डाल नहीं सके। प्रादेशिक भाषाओं की मूल विशेषताएं और शब्दसंग्रह पर भी वे कोई मूलगामी परिणाम न कर सके। मुस्लिम सत्ताओं के विषय में भी यही कहा जा सकता है। उनके मामले में, यद्यपि स्थानीयों की भाषाओं में फारसी शब्द विपुल संख्या में प्रविष्ट हुए, यहां की भाषाओं की मूलभूत रचना वे बदल नहीं सके। राज्यव्यवस्था, महसूल पद्धति, युद्ध पद्धति आदि में कई नई बातें देसी लोगों ने उनसे सीखी किन्तु ग्रामरचना और स्थानीय व्यवहार पद्धतियों को वे प्रभावित नहीं कर सके। इस वास्तव की दृष्टि से ईसापूर्व एक हजार वर्ष पहले क्या हुआ होगा इसका अनुमान हम लगा सकते हैं।

इसके अतिरिक्त, भारत में आजतक आए हुए समुदाय आर्य अथवा पोंटियाक स्टेपे मूल के हे थी ऐसा भी दिखाई नहीं देता। मध्य आशिया में प्राचीन काल से अनगिनत जातियां रहती आई हैं। ऋग्वेद और अवेस्ता इन प्राचीन लिखित साधनों को देखें तो उस समय मध्य आशिया में कम से कम चालीस जातियां थी। इन्हीं प्रमानोंसे यह भी पता चलता है कि उनकी भाषाएं भिन्न थीं और हर जाती की धर्मकल्पनाएं भी भिन्न थीं। इस कारण उनमें धार्मिक/राजकीय वर्चस्व के लिए संघर्ष भी हुआ करते थे। ऐसे अनगिनत युद्ध दर्ज किए गए हैं, साथ ही कई टोलीयों द्वारा अपना पक्ष बदले जाने के प्रसंग भी हैं। जैसे, पहले वैदिकों की मित्र रही भृगु, पुरु इ. जाति या टोलीयां दाशराज्ञ युद्ध में उनके विरुद्ध थी (ऋ. ७. १८)। पहले वैदिक या आर्य धर्म में प्रतिष्ठित रही इन टोलीयों द्वारा विरुद्ध पक्ष अपनाए जाने पर उन्हें अनार्य और अयज्ञ का संबोधन प्राप्त हुआ। मित्र का शत्रू बनना तथा शत्रु का मित्र बनना इस प्रकार की बातें होती ही रहती थीं।

ये लोग मध्य आशिया में आने से पूर्व कहां रहते थे? पोंटियाक स्टेपे के आदि-आर्यभाषक कहलानेवाले लोग भी वहां आने से पूर्व कहां रहते थे? अश्व तथा रथों के दफन के प्राचीन प्रमाण वहां प्राप्त हुए हैं किन्तु ऐसे प्रमाण अन्य अज्ञात स्थानों पर भी हो सकते हैं। अश्वों को पालतू बनाने या कृषि की खोज का श्रेय विश्व के एक ही मानव गुट को कैसे हम दे पाएंगे? अति प्राचीन काल में (जब मानवजात का उदय हुआ था) प्रत्येक जनसमुदाय के पूर्वज अस्थायी ही थे। पृथ्वी पर एक ही स्थान पर मनुष्य जन्म लेते थे और फिर वे वहां से विस्थापित होते थे ऐसा नहीं था। टॉवर ऑफ बैबल के बाईबिली सिद्धान्त का बड़ा ही प्रभाव पश्चिमी वैज्ञानिक एवं विचारकों पर है। प्रलय के पश्चात बैबल के टॉवर से विभिन्न मानव जातियां विश्वभर में फैल गईं, इस सिद्धान्त को वे लोग विश्वोत्पत्तिशास्त्रा तक खींचते हैं। आउट ऑफ आफ्रिका, पुरा-इंडो-युरोपियन भाषा बोलनेवाला गुट और उनके निर्गमने तथा महाविस्फोट सिद्धान्त इसी विचारधारा के अलग-अलग रूप हैं।

“आफ्रिका से बाहर” इस सिद्धान्त पर अभी इसी कारण प्रश्न उपस्थित किए जा रहे हैं। यह सिद्धान्त १९८७ में अस्तित्व में आया क्योंकि एक लाख तीस हजार वर्षपूर्व का तब तक सब से प्राचीन होमो सेपियन मानव का कंकाल वहां प्राप्त हुआ था। इस आधार पर एक साहसी सिद्धान्त की निर्मिती करते हुए लगभग साठ हजार वर्षपूर्व आफ्रिका से होमो सेपियन मानव बाहर निकला ऐसा कथन करते हुए वहां से संपूर्ण पृथ्वी पर मानव वितरण किस मार्ग से हुआ इसके नक्शे भी तैयार किए गए। हाल ही में पूर्व आफ्रिका के मोरोक्को में पहलेवाले कंकाल से भी कम से कम एक लाख वर्ष पुराना कंकाल प्राप्त हुआ और ‘आफ्रिका से बाहर’ इस सिद्धान्त को पहला धक्का लगा। मानव यदि साठ हजार वर्षपूर्व आफ्रिका से बाहर निकला, तो फिर यह एक लाख वर्ष पुराना कंकाल कहां से आया? फिर मानव आनुवांशिकी वैज्ञानिकों ने ऐसा कहना शुरू किया कि, मानव आफ्रिका से बहुत पहले ही बाहर निकला होगा। विश्व में अन्य कहीं इससे भी प्राचीन कंकाल प्राप्त हो सकता है

और तब हमें इस सिद्धान्त की नए से रचना करनी पड़ सकती है, इस का विचार उसके प्रवर्तकों द्वारा किया जाना आवश्यक था किन्तु ऐसा हुआ दिखाई नहीं देता।

पहले मानव आनुवांशिकी वैज्ञानिकों का अनुमान था कि, जिसे होमो सेपियन का भी पूर्वज कह सकते हैं, ऐसे हमारे मानवसदृश पूर्वज लगभग ढाई करोड़ वर्ष पूर्व आफ्रिका में अस्तित्व में आए। किन्तु म्यानमार में उससे भी प्राचीन, यानी तीन करोड़ सत्तर लाख वर्ष पुराने अवशेष प्राप्त हुए। इसका अर्थ है संभवतः श्रीलंका में इससे भी प्राचीन अवशेष प्राप्त हो सकते हैं। क्या ये आउट ऑफ आफ्रिका सिद्धान्त प्रस्तुत करने में की गई जल्दबाजी नहीं थी? मान लें यदि श्रीलंका में वास्तव में ऐसे अवशेष पाए गए, तो क्या हम मनुष्य पहले श्रीलंका में जन्मा ऐसा सिद्धान्त रचकर नए से उसके स्थानांतर के नक्शे बनाएंगे? और मनुष्य यदि एक ही स्थान पर उत्पन्न हुआ, तो उसके वंशाणुओं की प्रादेशिकता की पहचानस्वरूप चिन्ह (मार्कर्स) क्यों विकसित हुए? इसका उत्तर आनुवंशिक विज्ञान नहीं देता। ऐसा संभव है कि, अति प्राचीन काल में ही मानव का पृथ्वी पर वितरण बहुस्थाननिर्मिती तत्त्व के अनुसार पूर्ण हो चुका था। उत्खनित प्रमाण कई बार पथभ्रष्ट कर सकते हैं क्योंकि समय के संबंध में उसके पूर्व या पश्चात के प्रमाण विश्व में कहीं भी और कभी भी प्राप्त हो सकते हैं जिससे पुराने सिद्धान्त रद्द हो सकते हैं। प्राप्त अश्वोंसहित रथों की दफनभूमियां इस समय विशिष्ट भाग में ही हैं किन्तु ऐसा नहीं की यहीं या अन्य स्थान पर इनसे भी प्राचीन ऐसी भूमियां कभी प्राप्त ही नहीं होंगी। जैसे, राखीगढ़ी में हाल ही किए गए उत्खनन में मानव कंकाल प्राप्त हुए हैं और इनसे वंशाणु प्राप्त कर सिंधू संस्कृति के लोगों की आनुवंशिक रचना निश्चित करने का प्रयास किया गया।

स्टेपे की यान्नाया संस्कृति के लोग, जो आर्य भाषा ले कर विस्थापित हुए ऐसा माना जाता है, क्या वे कथित शुद्ध “आर्य” गुट के थे? इस प्रश्न का उत्तर आनुवंशिक विज्ञान ना में देता है। आर्य जिस स्थान से स्थानांतरित होने लगे, वह यान्नाया संस्कृति भी स्वतन्त्र नहीं क्योंकि उनके वंशाणुओं में कौकेशियन और निकट-पूर्व प्रदेश में पाए जानेवाले वंशाणुओं का मिश्रण है। इसका अर्थ है जिन वंशाणुओं को मूल इंडो-युरोपियन अथवा आर्यन माना जाता है वे स्वयं भी मिश्र वंशाणु धारण करते थे। वंशाणुओं से मानसिक संस्कृति या उन लोगों की भाषा का ज्ञान नहीं होता, मात्र कुछ हद तक उनकी आनुवांशिकी का ज्ञान हो सकता है। डेव्हिड राइश आदि ने खुले मन से यह स्वीकार किया था की वे लोग किस भाषा में बोलते थे यह उनके वंशाणुओं के आधार से कहा नहीं जा सकता। यह आनुवंशिक प्रतिवेदन यान्नाया संस्कृति के चार प्राचीन कंकालों से वंशाणु प्राप्त कर के तैयार किया गया था। डेव्हिड राइश और आयोसिफ लाझार्डिस इन्होंने उनका शोधप्रबंध सन २०१५ की सायंस पत्रिका में प्रसिद्ध किया था। यहां महत्वपूर्ण बात यह थी की, कथित इंडो-युरोपियनों के वंशाणु भी अन्य प्रदेश के लोगों द्वारा प्रदृष्टि किए गए थे। साथ ही उनकी भाषा पुरा-इंडो-युरोपियन ही थी, ऐसा निश्चयपूर्वक कहनेवाला एक भी प्रमाण आज उपलब्ध नहीं।

एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि, व्यापक स्थानांतर सिद्धान्त यदि सत्य माना जाए तो भी भारत में आए ये स्थानांतरीत लोग एकही पुरा-इंडो-युरोपियन भाषा में बोलते थे, ऐसा तर्क हम नहीं कर सकते। मध्य आशिया में अनेक धर्म (यहां तक की वैदिक और इरानी माझदायस्ती भी) तथा अनेक मानवी जातियां अस्तित्व में होने के कारण उनमें से जो जातियां स्थानांतरित हुईं उनके धर्म तथा भाषाओं में कुछ समानताएं भले ही हो, किन्तु वे एक ही होने की संभावना बहुत ही कम है।

कुछ विद्वानों के मतानुसार आर्य भारत में अलग-अलग समय पर आए और अलग-अलग भूप्रदेशों में बसे। इसलिए उनकी भाषा एकजैसी होने की संभावना नहीं है। इन पृथक लहरों के कारण तथा उन लोगों के विद्वान कहते हैं। यदि इस तर्क को मान लिया जाए, तो यह भी मानना पड़ेगा की आर्य भारत में कम से कम आठ चरणों में आए क्योंकि कम से कम इतनी प्राकृत भाषाएं पुरातन काल में ही दर्ज की गई हैं। किन्तु यह वास्तव नहीं है। इसके अतिरिक्त इंडो-युरोपियन भाषा में अप्राप्य मूर्धन्य ध्वनि वैदिक भाषा में कहां से आए और बाद

की संस्कृत से कैसे गायब हुए यह प्रश्न उपस्थित होता है। इसपर देशपांडे का उत्तर है कि, “शाकल्य की संहिता का उच्चारण भी कुछ हद तक भिन्न प्रदेश एवं समयावधीयों में बदला.....शाकल्य की संहिता में आज देखे जानेवाले मूर्धन्य ध्वनि ऋग्वेदीय सूक्तों की मूल भाषा में लगभग अनुपस्थित थे और उन सूक्तों की मौखिक यात्रा के दौरान संभवतः वे धीर-धीरे प्रविष्ट हुए हैं।”⁶ किन्तु ये मूर्धन्य ध्वनि वैदिक भाषा में कैसे और कहां से प्रविष्ट हुए इसका कोई युक्त उत्तर देशपांडे देते नहीं हैं। वैदिक भाषा यही मूल और लगभग अविकृत भाषा है यह केवल एक अनुमान है, किन्तु आगे हम देखेंगे कि कैसे वह वास्तविक नहीं है।

देशपांडे यह स्वीकार करते हैं कि, आज की ऋग्वेद की भाषा मूल नहीं बल्कि कुछ बदलावों के पश्चात बनी हुई है। इस संबंध में मूल भाषा क्या थी, तत्कालीन बोलीयों का स्वरूप क्या था और अन्य जनजातियों की बोलीयां, यद्यपि वे एकही भाषागुट की थी, उनका स्वरूप क्या था, इन प्रश्नों के उत्तर कम से कम आज किसी के पास नहीं हैं। ऋग्वेद का ही प्रमाण लें तो दास-दस्युओं की (जो आर्य गुट के ही थे) भाषाओं को “मून्न वाचा” यानी संदिग्ध, ठीक समझ में न आनेवाली भाषा कहा जाता है। इसका अर्थ है एक ही प्रदेश में बसनेवाले आर्यों की भाषाएं भी समनुरूप नहीं थी।

स्वभाषा को सभी लोग थ्रेष समझते हैं किन्तु वास्तव ऐसा नहीं होता। वैदिक आर्यों को उनकी भाषा भले ही थ्रेष लगती हो, किन्तु यदि ऋग्वेद की भाषा भी मूल भाषा रही नहीं तो इस वास्तव का क्या करें?

सभी कथित इंडो-युरोपियनों की भाषाएं, कम से कम वहां से दूसरा या तीसरा स्थानांतरण हुआ उस समय एक ही प्रवृत्ति की थी इस दावे की पुष्टि करने के लिए कोई भी लिखित आधार नहीं है। यह केवल तर्क मात्र है।

मूलतः इंडो-युरोपियनों की मूल भाषा का वास्तव दर्शनेवाला एक भी प्रमाण आज अस्तित्व में नहीं है। फिर भी, आजकल आनुवंशिक विज्ञान का उपयोग आर्यभाषा बोलनेवाले लोगों के विस्थापन के प्रश्न को हल करने के लिए किया जा रहा है। चूंकि यह विज्ञान अभी तक उसकी बाल्यावस्था में है और इसके आधार से कई परस्पर विरोधी निष्कर्ष निकाले गए हैं, उनका पुनर्विलोकन करना आवश्यक है।

इंग्लैंड के हडर्सफिल्ड विश्वविद्यालय में पीएच.डी की छात्रा मारिया सिल्वा तथा उनके सहयोगी विद्यार्थी द्वारा किए गए अनुसंधान ('बीएमसी इव्होल्युशनरी बायोलॉजी' मार्च २०१७) के निष्कर्षानुसार भारत में कम से कम तीन स्पष्ट मानव स्थानांतर हुए। पहला स्थानांतर आफ्रिका से लगभग पचास हजार वर्षपूर्व हुआ। ये स्थानांतरित लोक मुख्य रूप से शिकारी और अन्वसंग्राहक थे। दूसरा स्थानांतर ईरान के मार्ग से हुआ, जो हिम युग के पश्चात दस से बीस हजार वर्षपूर्व हुआ। इन स्थानांतरितों ने भारत में कृषी संस्कृति की नींव डाली। आनुवंशिक संकेतों के अनुसार तीसरा बड़ा स्थानांतर ईरान ही से लगभग साढ़े-चार हजार वर्षपूर्व हुआ। इन लोगों की संस्कृति पुरुषप्रधान थी। पुरुष संक्रामक वाय क्रोमोज्नोन की बलिष्ठता के अनुसार ये लोग इंडो-युरोपियन यानी संस्कृत भाषा के बाहक थे। इन मूल लोगों में से कुछ का स्थानांतर युरोप में भी हुआ और वहां संस्कृत की समकक्ष ग्रीक एवं लैटिन भाषाओं का उदय हुआ। कैस्टियन तथा काला समुद्र इनके बीच के प्रदेश में इन लोगों का जन्म हुआ था और वे पुरा-संस्कृत भाषा बोलते थे। वे ही लोग ईरान में आ पहुंचे और उन्हीं में से कुछ आर्य ईसापूर्वी दो से तीन हजार वर्षपूर्व भारत में आए। पुरातन मानवी कंकालों के वंशाणुओं से मानव स्थानांतर की दिशा खोजना संभव होता है। प्रस्तुत अनुसंधान के प्रतिवेदन के कुल कथनानुसार भारतीयों के मातृक वंशाणु प्राचीन हैं किन्तु पैतृक वंशाणुओं में औसत साढ़े-चार हजार वर्षपूर्व हुए बदलाव प्राप्त किए जा सकते हैं। कांस्य युग में हुए इन आनुवंशिक बदलावों से हुआ फर्क तीव्र होने के कारण इंडो-आर्यन लोगों के भारत में हुए स्थानांतर का तर्क वास्तव सिद्ध होता है। इस अनुसंधान गुट में विद्यार्थियों के साथ आनुवंशिक-पुरातत्व के अध्यापक मार्टिन रिचर्ड्स भी थे।

इससे पूर्व सन २०१५ में 'नेचर' पत्रिका में भी मॉर्टम अँलनटॉफ्ट इत्यादी ने युरोप तथा मध्य आशिया के १०१ कंकालों से प्राप्त वंशाणुओं का अभ्यास कर के निकाले निष्कर्ष प्रसिद्ध हुए थे। इसी वर्ष 'सायंस' पत्रिका में डेव्हिड राइश और आयोसिफ लाज्जार्डिस इनके द्वारा प्रकाशित रिपोर्ट में याम्नाया संस्कृति के चार कंकालों के आधार से लगभग ऐसे ही निष्कर्ष निकाले थे।

इससे पहले सन २०१३ में प्रिया नूरजानी इन्होंने दक्षिण भारतीय तथा उत्तर भारतीय आनुवांशिकी के स्वतन्त्र होने का निष्कर्ष निकाला था और उन्हें साऊथ इंडियन अँन्सेस्ट्री और नॉर्थ इंडियन अँन्सेस्ट्री ऐसी संज्ञाएं दी थी। दक्षिण भारत में आर्य वंशाणु न पाए जाने के कारण यह विभाजन किया गया था। आज विश्व में प्रदेशानुसार निहाय 'ए' से 'आर' तक अनेक आनुवंशिक गुट माने जाते हैं। इन में 'आर' यह गुट आर्य या केल्टिक लोगों का माना जाता है। यह गुट केवल युरेशियन लोगों में ही पाया जाता है। द्रविड़ों का आनुवंशिक गुट 'एल' है, न कि 'आर', यानी आर्य वंशाणुगुट से उनका कोई संबंध नहीं है। किन्तु आनुवंशिक वास्तव ऐसा है कि परिमाण यद्यपि अल्प है, फिर भी 'आर' गुट दक्षिणी लोगों में भी उपस्थित है, पर उनकी भाषा इंडो-युरोपियन नहीं है। दक्षिणी लोगों में 'एल' आनुवंशिक गुट का परिमाण विभिन्न सामाजिक गुटों में १७ से १९ प्रतिशत है। उत्तर भारतीयों में 'आर' गुट का परिमाण औसत १० से १८ प्रतिशत पाया जाता है, और दक्षिणीयों में ५ से १० प्रतिशत। आनुवंशिक अभ्यास में इस तरह भिन्न तथा संभ्रम उत्पन्न करनेवाली जानकारी प्राप्त होने के कारण उसपर आधारित निष्कर्ष भी संभ्रमित करनेवाले होंगे यह स्पष्ट है।

'आर' गुट भारत में कथित इंडो-युरोपियनों के आगमन से पूर्व से ही दक्षिण आशिया में उपस्थित था और आर११६ इस आनुवंशिक गुट का उदय दक्षिण आशिया ही में हुआ है, ऐसा मत साहू आदि ने सन २००६ में एक शोधनिवंध में व्यक्त किया था।⁷ एक तरह से यह सिद्धान्त पुरा-इंडो-युरोपियन भाषा बोलनेवाले लोग भारतीय मूल के ही थे यह सिद्ध करने का प्रयास करता है।

उदाहरण के रूप में एक ताजा शोधनिवंध देखें। राखीगढ़ी में प्राप्त मानव कंकालों से प्राप्त वंशाणुओं के परीक्षण के आधार से 'सायंस' तथा 'नेचर' इन प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में दो निवंध प्रसिद्ध किए गए। एक शोध निवंध के लेखन में डेव्हिड राइश जैसे विशेषज्ञ थे और दूसरे शोधनिवंध के मुख्य लेखक राखीगढ़ी के उत्खनन प्रकल्प के प्रमुख डा. वसंत शिंदे थे। इन दोनों शोध निवंधों के निम्न निष्कर्ष थे -

इंडो-युरोपियन भाषा बोलनेवाले पूर्व युरोपा के 'स्टेपे' प्रदेश में रहनेवाले अस्थायी पशुपालक लोगों ने ईसापूर्व दो हजार से पहले ईरान में स्थानांतर किया। आगे ईसापूर्व दो हजार से एक हजार इस समयावधी में उन्होंने ईरान से भी स्थानांतर किया और किसी समय वे भारत में आ पहुंचे। इसके पश्चात उत्तर भारतीय निवासीयों में (यानी आज के उत्तर भारतीय लोग) ईरान एवं स्टेपे भाग से आए अस्थायी पशुपालकों के वंशाणु प्रवाह का परिमाण अधिक, यानी ३०% है। संभवतः इंडो-युरोपियन भाषा उन्हीं लोगों ने अपने साथ लाई थी और फिर वे उत्तर भारत में प्रसारित हुईं। राखीगढ़ी से एक महिला का कंकाल भी प्राप्त हुआ, जो ईसापूर्व २६०० का, यानी आज से लगभग ४६०० वर्ष पुराना। अपितु इस कंकाल के वंशाणुओं में स्टेपे वंशाणुप्रवाह का अस्तित्व पाया नहीं गया। उसमें ईरानी वंशाणु तो हैं, किन्तु उनका परिमाण नगण्य हैं। सिंधू संस्कृति के व्यापार के कारण इस प्रदेश के साथ होनेवाले नित्य संपर्क के साथ यह वंशाणुप्रवाह कुछ हद तक यहां बहा होगा। एक ही कंकाल से प्राप्त वंशाणुओं के आधार पर निकाला गया निष्कर्ष परिपूर्ण नहीं होगा, इसके लिए अधिक नमूनों को खोज कर उनके वंशाणुओं की क्रमानुसार रचना करना आवश्यक है, ऐसा एक सुझाव भी इस शोधनिवंध में दिया गया है। (संदर्भ- सायंस व नेचर, सितम्बर २०१९)

यह एक ताजा रिपोर्ट है और भारत ही में प्राप्त किए गए ४६०० वर्षपूर्व के वंशाणुओं के मध्य आशिया से प्राप्त वंशाणुओं के साथ किए गए तौलनिक अभ्यास से निकाले गए ये निष्कर्ष हैं। इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि, सिंधू संस्कृति में रीसे अल्प ईरानी वंशाणु व्यापारादि कारणों से आए होंगे। यह बात स्पष्ट है कि, इससे पहले

किए गए परीक्षण के निष्कर्षों के संबंध में डा. शिंदे द्वारा प्रसिद्ध किए गए दावे और वास्तविक शोधनिबंध के निष्कर्ष इन में बहुत बड़ा अंतर है। प्रसार माध्यमों में प्रसिद्ध दावे इस पुस्तक के शुरुआत में ही दिए गए हैं। गर्भित अर्थ और प्रसिद्ध किए गए निष्कर्ष संपूर्णतया भिन्न हैं। किन्तु महत्वपूर्ण बात यह है कि, सिंधू संस्कृति के वंशाणु पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हैं और उनपर स्टेपे के या युरेशियन वंशाणुओं का कोई प्रभाव नहीं है। इसका दूसरा अर्थ यह भी सकता है कि, सिंधू संस्कृति के निर्माता ये आर्य अथवा युरेशियन स्टेपे के लोग नहीं थे, इसलिए उनकी भाषा एवं संस्कृति पूर्णतया स्वतन्त्र थी।

वास्तव में वंशाणु से लोग किस भाषा में बोलते थे यह कहना संभव नहीं है, ऐसे में इंडो-युरोपियन भाषा स्थानांतरितों ने अपने साथ लाई थी इस तर्क का आधार इन विशेषज्ञों द्वारा स्पष्ट नहीं किया गया है। पहला रिपोर्ट कहता है कि, ईसापूर्व दो से तीन हजार वर्षपूर्व आर्य भारत आए और ताजा सिद्धान्त कहता है कि, इंडो-युरोपियन भाषा बोलनेवाले आर्य भारत में ईसापूर्व १००० से पहले (यानी तीन हजार वर्षपूर्व) और ईसापूर्व २००० के पश्चात (यानी चार हजार वर्षपूर्व के पश्चात) किसी समय आए। मूलतः किसी भाषा का किसी प्रदेश में जन्म होता है और वह युरेशिया जैसे विशाल प्रदेश में फैलती है यह सिद्धान्त आनुवंशिक विज्ञान का आधार लिया जाए तो भी समाधानों से अधिक प्रश्न निर्माण करता है। किन्तु सिंधू संस्कृति के विकास के अधिकांश चरण हमें पुरातत्वीय प्रमाणों से ही ज्ञात होते हैं इसमें कोई संदेह नहीं। ये चरण इस प्रकार के थे -

१. हडप्पापूर्व चरण- ईसापूर्व ७००० से ईसापूर्व ५५००
२. प्राथमिक विकासाभिमुख चरण- ईसापूर्व ५५०० से ईसापूर्व २८००
३. प्रगत चरण- ईसापूर्व २८०० से ईसापूर्व १८००
४. अपकर्ष एवं पुनर्चनात्मक चरण- सन १८०० के पश्चात

इन चरणों के संधिकालों में कई छोटे चरण भी हैं, किन्तु हमारी चर्चा में इन महत्वपूर्ण चरणों को विचार में लिया जाना आवश्यक है। आनुवंशिक प्रमाणों के अनुसार यदी आर्यभाषक लोग ईसापूर्व ३००० से ईसापूर्व १००० इस समयावधि में किसी समय भारत आए थे, तो भी सिंधू संस्कृति की स्थापना होकर वह अपने विकास के चरण पूर्ण कर चुकी था, इसलिए उसके विकास में इन स्थानांतरितों का सहभाग होना असंभव है। साथ ही, हम अब तक इसका अनुमान नहीं लगा पाए हैं कि, इन लोगों की संख्या वास्तव में कितनी थी। उनकी धर्मकल्पनाएं, ऐहिक-व्यावहारिक बातें आदि का कोई भी प्रभाव सिंधू संस्कृति पर दिखाई नहीं देता। इस बात पर सभी का एकमत है कि, ये स्थानांतरीत लोग पशुपालक लोग थे और सिंधू संस्कृति कृषि-व्यापार केन्द्रित संस्कृति थी। इन दोनों संस्कृतियों में कोई भी समानता नहीं थी। यद्यपि वंशाणुओं के प्राप्त नमूनों की संख्या अत्यल्प है, उसका सर्वसाधारण निष्कर्ष भी यही निकलता है।

एक और मुद्दा यानी पिता की ओर के स्टेपे वंशाणुओं का प्रभाव है किन्तु माता की ओर के स्थानिक वंशाणु प्रबल हैं। ईसापूर्व एक हजार के पश्चात जन्मे उत्तरी भारतीयों के वंशाणुओं में ईरानी एवं स्टेपे भाग के अस्थायी पशुपालकों के वंशाणुओं का परिमाण अधिक (यानी अधिकतम ३०%) है। इंडो-युरोपियन भाषा संभवतः उनके द्वारा ही लाई गई और वे उत्तर भारत में फैली। किन्तु ये बाहरी वंशाणु केवल पिता की ओर के हैं, माता के नहीं। इस आधार से वंशाणु शास्त्री ऐसा भी निष्कर्ष निकालते हैं कि, संभवतः भारत में उन लोगों के साथ उनकी महिलाएं नहीं थी। यदि स्थानांतरण सिद्धान्त मान लिया जाए तो यह प्रश्न अनुत्तरीत रहता है कि, केवल पुरुषों ने स्थानांतर क्यों किया और उनके द्वारा पीछे छोड़ी गई स्त्रियों का क्या हुआ।

तीसरा आत्यंतिक दुर्लक्षित एवं अनुत्तरीत मुद्दा यह है कि, आर्यभाषकों का वंशाणु और भाषा प्रवाह उत्तरी भारत में, महाराष्ट्र तक ही क्यों रुक गया? कथित आर्यभाषाओं का प्रभाव उत्तरी भारत की भाषाओं पर

ही क्यों है? अनातोलिया से उत्तरी भारत तक फैलनेवाले आर्य दक्षिण भारत में (तीन हजार वर्षों में भी) अपनी भाषाओं का प्रभाव क्यों नहीं दिखा पाए?

और सब से महत्वपूर्ण बात, ये इंडो-युरोपियन भाषा बोलनेवाले लोग सुदूर युरोप के प्रतिकूल वातावरण में तो गए किन्तु रास्ते में पड़नेवाले मध्यपूर्व, ईजिस आदि भागों में बिल्कुल ही नहीं गए, ऐसा क्यों? सेमेटिक भाषागुट की बात करें तो, उन प्रदेशों की भाषाएं एक दूसरे से प्रभावित ही सही किन्तु उन्होंने अपना प्राचीन मूल स्वरूप आज भी जतन किया है। यहां हम ईजिप्शियन भाषा का उदाहरण देखेंगे। ईजिस की संस्कृति सिंधू संस्कृति जितनी ही प्राचीन एवं समृद्ध है। सब से प्राचीन लिखित धर्मसाहित्य भी इसी भाषा में है। प्राचीन ईजिप्शियन धर्मसाहित्य पिरैमिड टेक्स्ट के नाम से प्रसिद्ध है और वह पिरैमिड्स की दीवारों पर उकेरा गया है। इसी कारण वह आज तक बिना किसी बदलाव के सुरक्षित रहा है। यह साहित्य ईसापूर्व २४०० से उकेरना शुरू हुआ था। इसके पश्चात ईसापूर्व १६०० से आगे पपायरस पर लिखा गया 'बुक ऑफ डेड' यह मृतों का मरणोपरांत मार्गक्रमण सुचारू होने हेतु लिखा गया मंत्र संग्रह प्राप्त हुआ है। ईसापूर्व २४०० से लिखित रूप में उपलब्ध यह भाषा समय के साथ बदलावों को स्वीकारते हुए प्राचीन, मध्यकालीन, डिमोटिक, कॉप्टीक और आज की अरबी-ईजिप्शियन इस मिश्रभाषा के रूप में टिकी हुई है। डिमोटिक और इसके पश्चात कॉप्टीक लिपियों में ईजिप्शियन भाषा लिखी जाने के कारण उन लिपियों के नाम ईजिप्शियन भाषा से भी जुड़ गए। फिर भी यह भाषा बदली नहीं। आज यह भाषा अरबी लिपि में लिखी जाने के कारण उसे अरबी-ईजिप्शियन कहा जाता है, किन्तु भाषा वही प्राचीन है। मूल ईजिप्शियन भाषा की व्याकरणादि विशेषताएं भी कायम रही हैं। सांस्कृतिक प्रवाह के साथ ही भाषा भी निरंतर प्रवाहित रहती है, इस तत्त्व का यह भिन्न-भाषक गुट से प्राप्त उदाहरण है।^४ वास्तव में ईजिस पर पहले ख्रिस्ती धर्म का और सातवीं शताब्दी में इस्लाम का आक्रमण हुआ और यहां स्वाभाविक रूप से अन्य भाषाएं भी प्रविष्ट हुईं। किन्तु यद्यपि ईजिप्शियन भाषा ने अन्य भाषाओं के कुछ प्रभावों का स्वीकार किया, अपनी मूल रचना कायम रखी। यानि सांस्कृतिक/धार्मिक प्रभावों से भाषाएं भी बदलती हैं, यह पूर्ण सत्य नहीं है। कुछ आदानप्रदान अवश्य होता है। जैसे, ईजिप्शियन भाषा के कई शब्द ग्रीक तथा रोमन भाषाओं ने उधार लिए हैं और वे आज भी प्रचलित हैं।

इस चर्चा से हम यह देख सकते हैं कि, आनुवंशिक विज्ञान और मानव स्थानांतर के मुद्दे एकदूसरे से मेल नहीं खाते। इराक तथा सौदी अरेबिया की सीमाएं ईरान के साथ जुड़ी हैं फिर भी इंडो-आर्यन भाषा बोलनेवाले लोग इराक को लांघकर सीधे युरोप गए किन्तु इराक में या निकट के ईजिस, मेसोपोटेमिया में रुके भी नहीं और वहां की सेमेटिक भाषा तथा स्थानीयों के वंशाणुओं पर एक खरोंच भी ला नहीं सके, यह एक अतार्किक कथन कहा जा सकता है। इसलिए, मानव के स्थानांतर तथा भाषाओं के प्रसार का सिद्धान्त संदेहजनक सिद्ध होता है। जो बात ईजिप्शियन भाषा (और हिन्दू तथा अरेबिक भाषा भी) के लिए लागू होती है, वही सिंधू संस्कृति की तत्कालीन भाषाओं को भी लागू होती है, और इन भाषाओं के आज की भाषाओं के साथ आंतरिक संबंध अन्य किसी भाषा के या किसी समाज के स्थानांतर के साथ कैसे जोड़े जा सकते हैं इस पर गंभीरता से विचार किया जाना आवश्यक है।

इसी के साथ, प्रचलित मान्यता के अनुसार कथित आर्यों का प्रथम धर्मग्रन्थ ऋग्वेद, यह अधिकतर दक्षिण अफगानिस्थान में रचा गया है। इसके प्रमाण स्वयं ऋग्वेद एवं समकालीन धर्मग्रन्थ अवेस्ता में भी उपस्थित हैं। ऋग्वेद में लगभग ३६ टोलीयों का उल्लेख है। इन में महत्वपूर्ण टोलीयां हैं - पर्श (पर्शियन), तुर्वसा (तुरानी), आर्य तथा ऐर्यन (ईरान), गंधर्व (गान्धार/कंदाहार), पञ्चत (पञ्चतुन लोग), भलानस (बलुची लोग), दास तथा दाहवे (मध्य आशिया के दास/दाहवे जातियों के दाह-इ-घुल्मन व दाहीस्तान ये प्रदेश)। जिन आर्यों ने या इंडो-युरोपियनों ने स्थानांतर किया, उनमें इन महत्वपूर्ण टोलीयां समाविष्ट थीं ही नहीं क्योंकि पर्श लोग पर्शिया ही में रहे और तुर्वसा तुराण ही में रहे। पञ्चतुन लोग भी आज के पञ्चतनिस्थान में हैं, भलानस बलोचिस्तान में हैं

बाल्हिक लोग बल्ख (बैक्ट्रीया) प्रदेश में आज भी हैं। पुरु, तुत्सु, भरत ये टोलीयां एकधर्मीय थीं और उन सभी का सामायिक नाम आर्य (ऐर्यन) था। फिर भी, आर्य कहलानेवाली सभी टोलीयां वैदिक धर्म की नहीं थी। पारसी धर्मीय भी स्वयं को आर्य ही कहलाते थे। यानी इन्हीं में से कुछ वैदिक धर्मीय भारत में आए, न कि सभी आर्य या ऐर्यन लोग यह वास्तव हैं और लिखित इतिहास इसी की पुष्टि करता है। ये प्रदेश आज भी आर्योंसहित उनकी जाति के नाम से ही पहेचाने जाते हैं। ईरान नाम कायम रहा क्योंकि बहुसंख्य ऐर्यन (अरिया, सं. आर्य) लोग आज के ईरान में ही रहे। फिर प्रश्न उपस्थित होता है कि, यदि बड़ी संख्या में स्थानांतर जो हुआ वह किन लोगों का हुआ और जब कि अन्य सभी जातियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं, जिस बलवान जाति का बड़ी संख्या में स्थानांतर हुआ इकलौते उसी जाति का उल्लेख ऋग्वेद या अवेस्ता में क्यों नहीं पाया जाता? ऐसे स्थानांतर का एक भी पुरातत्वीय प्रमाण क्यों नहीं है? इसका अर्थ है, जो भी स्थानांतर हुए हैं, वे मुट्ठीभर लोगों के हुए और मुट्ठीभर लोग किसी भी प्रगत संस्कृति पर, चाहे वे राज्यकर्ता बनें तब भी, इतना प्रभाव नहीं डाल सकते जिससे उस संस्कृति में आमूलाग्र परिवर्तन हो जाए। यह एक ऐतिहासिक वास्तव है। राज्यकर्ताओं की भाषा उनकी सत्ता जब तक कायम है तब तक राज्यव्यवहार की भाषा रहती है किन्तु वह लोकभाषा नहीं बनती। हमें इस वास्तव की ओर ध्यान देना आवश्यक है कि, गांधारी प्राकृत में ग्रीक भाषा के जो शब्द आए हैं, वे केवल सेनानीओं के पदनामों तक ही सीमित हैं। ‘राजतरंगिणी’ ग्रन्थ से हमें ज्ञात होता है कि, ‘चंकुन’ यह सेनापतीपदनिर्दर्शक शब्द कश्मीरी भाषा में चिनी भाषा से और तोखारी लोगों के माध्यम से आया था किन्तु यह शब्द कश्मीर में व्यक्ति का नाम बन गया।

यहां हमारे कथन की दृष्टि से महत्वपूर्ण मुद्दा है प्राकृत भाषाएं और उनकी प्राचीनता। तथाकथित स्थानांतरित लोग भारत में चाहे जब भी आए हो और चाहे जिस संख्या में आए हो, उनके वंशाणुओं के अनुसार वे आर्य भाषा बोलनेवाले थे और उन्होंने यहां की भाषाओं को प्रभावित किया, यह मात्र तर्क है और वह भी केवल ऋग्वेद और अवेस्ता की भाषा के आधार से किया गया है। वास्तव में समकालीन और समान प्रदेश में लिखे गए इन ग्रन्थों की भाषा में जितनी समानताएं हैं, उतना ही विरोध भी है किन्तु इस ऐसा क्यों इसका उत्तर यह सिद्धान्त नहीं देता। स्कैंडिनेविया से उत्तरी भारत इस विशाल भूप्रदेश में इंडो-आर्यन भाषागुट का अस्तित्व होने के कारण ये भाषागुट संभवतः इन स्थानांतरितों के कारण निर्माण हुए ऐसा तर्क इस संबंध में दिया जाता है किन्तु मूलतः भाषागुटों की निर्मिती के पीछे स्थानांतर के अतिरिक्त अन्य कारण भी हो सकते हैं इसका विचार भाषाविदों ने नहीं किया। इसलिए, भाषागुट का सिद्धान्त सत्य माना जाए तब भी उसका निर्माण स्थानांतरितों के कारण ही हुआ यह तर्क एक कठीन प्रश्न का आसान उत्तर देने का प्रयास सिद्ध होता है, न कि वास्तव और ऐसा दर्शनिवाले कई प्रमाण अभी सामने आ रहे हैं। भाषा की निर्मिती और विकास कैसे होते हैं, जब तक इसपर विचार नहीं किया जाता, तब तक भाषा कूटप्रश्न बनी रहेगी। इसका दूसरा कारण यह है कि जिस भाग से आर्यभाषा बोलनेवाले लोग विस्थापित हुए ऐसा कहा जाता है, उस भाग की (यानी ईरान, अफगानिस्थान, स्टेपे आदि) भाषाओं का विद्यमान वास्तव क्या है यह देखा जाए तो हम समझ पाएंगे कि, कथित मूल आर्य भाषा बोलनेवाले लोगों के प्रदेश की भाषाएं पूर्णतया अलग हैं। भारतीय उपखंड के उत्तर तथा दक्षिण भागों की भाषाओं की यात्रा भी पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है। सतही रूप में उनमें जो समानताएं दिखाई देती हैं या कृत्रिम रूप से खोजी जाती हैं उनके आधार से भाषाओं की एकस्थान निर्मिती और फिर उनका वितरण, ऐसी रचना की जाती है और वह आउट ऑफ आप्रिका सिद्धान्त के समान कमजोर हो जाती है इसका हमें ख्याल रखना होगा।

संदर्भ-

¹ A- Deciphering the Indus script, Asko Parpola, Cambridge University Press, 1994.

B- Dravidian Proof of the Indus Script via the Rig Veda: A Case Study, Iravatham Mahadevan, Indus Research

-
- Centre, Roja Muthiah Research Library, 2014
- ² The Deciphered Indus Script : Methodology, Readings, Interpretations, by Natwar Jha, Navaratna Srinivasa Rajaram, Aditya Prakashan, 2000
- ³ Indus script deciphered, by M. V. N Krishna Rao, 1982
- ⁴ The Language of the Harappans: From Akkadian to Sanskrit By Malati J. Shendge
- ⁵ The Collapse of the Indus-Script Thesis: The Myth of a Literate Harappan Civilization' (Steve Farmer, Richard Sproat, and Michael Witzel, 2004). Available online at <http://www.safarmer.com/fsw2.pdf>
- ⁶ (Deshpande...pp163)
- ⁷ A prehistory of Indian Y chromosomes: Evaluating demic diffusion scenarios, Sahoo, S. et al. Proceedings of the National Academy of Sciences. 103 (4), (2006), pp 843–848.
- ⁸ A. Language and Identity in Modern Egypt, Reem Bassiouney, Edinburgh University Press, 2015
B. Middle Egyptian: An Introduction to the Language and Culture of Hieroglyphs. Allen, James P., Cambridge University Press. 2000
C. The Ancient Egyptian Language: An Historical Study. Allen, James P., Cambridge University Press. 2013

चार

बोगाज्ञकोय लेख, अवेस्ता और ऋग्वेद की भाषा

१९०७ में बोगाज्ञकोय (आशिया मायनर) यहां के उत्खनन में कई इष्टीकालेख प्राप्त हुए। इन लेखों में तत्कालीन राजा और उनके सामंतों के बीच हुआ काफी पत्रव्यवहार प्राप्त हुआ। उसमें मितान्नी व हिट्टाईट राजाओं में हुआ एक संधिपत्र भी है। यह संधि सुप्पीलुलिउमा और शत्तीवाज्ञा इन राजाओं के बीच हुई थी और इसका समय ईसापूर्व १३८० है। इस संधिपत्र व अन्य लेखों की भाषा हुर्रीयन है किन्तु संधिपत्र में अन्य अनेक देवताओं के साथ ही कुछ वैदिक (और अवेस्ती भी) देवता-असुरों का भी उल्लेख मिलता है। इन शब्दों का मूल इंडो-युरोपियन है ऐसा मानकर इंडो-युरोपियनों ने अपना विस्तार करते हुए किसी समय हुर्रीयन लोगों की भाषा को प्रभावित किया था ऐसा अनुमान लगाया जाता है। उसी समय मितान्नी राज्य के हुर्रीयन भाषक किकुली नामक अश्वप्रशिक्षक ने अश्व-परीक्षण संबंधी एक पुस्तिका लिखी थी जो प्राप्त हुई है। इस पुस्तिका में भी कुछ अंकों के नाम तथा अश्व से संबंधित नामों का मूल भी इंडो-युरोपियन भाषा है ऐसा दावा किया गया। इन पुराभिलेखों के कारण इन्हें इंडो-युरोपियन भाषाओं का सब से प्राचीन प्रमाण माना गया और इस सूचि में ऋग्वेद तीसरे स्थानपर आया।

यहां इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि, इन लेखों में कुछ प्राकृत सदृश नाम पाए जाते हैं, संस्कृत सदृश नहीं। इसके अतिरिक्त ये लोग तथा इस संधिपत्र की मुख्य भाषा सेमेटिक भाषागुट की हुर्रीयन भाषा थी, न कि प्राकृत अथवा संस्कृत। केवल कुछ कथित इंडो-युरोपियन संज्ञाएं और नाम ही इन में पाए जाते हैं। उदाहरण के लिए, लेख, संधिपत्र तथा किकुली की अश्व-परीक्षण पुस्तिका में पाए गए इंडो-युरोपियन नाम तथा अंकनाम इस प्रकार हैं –

इंदर - संस्कृत रूपांतर 'इंद्र'

उरुवना- संस्कृत रूपांतर 'वरुण'

नासतियाना- संस्कृत रूपांतर 'नासत्य'

अक्रिस- संस्कृत रूपांतर 'अग्नि'

बिर्यमास्दा- संस्कृत रूपांतर- 'प्रियमेघा', अवेस्ती रूपांतर- 'प्रियमाझ्दा'

बिर्यअस्सुवा- संस्कृत रूपांतर 'प्रितश्वा'

अर्ततमा- संस्कृत रूपांतर 'ऋतधामन'

अस्सुवा- संस्कृत रूपांतर 'अश्व'

ऐक्षा- संस्कृत रूपांतर 'एकं'

तिएरा- संस्कृत रूपांतर 'त्रि'

पंझा- संस्कृत रूपांतर 'पंच'

सत्ता- संस्कृत रूपांतर 'सप्त', हुर्रीयन - सिंती=सात

नव्वा- संस्कृत रूपांतर ‘नवं’

वर्तन्ना- संस्कृत रूपांतर ‘वर्तन’

अर्तशुमार- संस्कृत रूपांतर ‘अर्तस्मर’

रत्त- संस्कृत रूपांतर ‘रथ’

इनके अतिरिक्त भी इंडो-युरोपियन भाषाओं के साथ साधर्म्य दर्शनिवाले कई नाम अनेक इष्टीकालेखों में पाए गए हैं। तुसरत्त (इंडो-इरानियन त्वेस-रथ, संस्कृत- दशरथ), सत्तुरा (सत्वर) ऐसे कुछ इंयुभा नाम हुर्रीयन राजाओं के थे। ऐसे ही उनकी राजधानी का नाम वासुकन्नी (वासुखनी) था। प्रस्तुत सिद्धान्त के अनुसार इसका अर्थ ये सारे शब्द पुरा-इंयुभा बोलनेवाले एक स्थानांतरीत गुट का अस्तित्व दर्शते हैं।¹ ऊपरिनिर्दिष्ट हुर्रीयन भाषा के लेख में उल्लेखित नाम संभवतः मूल पुरा-इंडो-युरोपियन भाषा से आए हैं और अपने विस्तार के समय इंडो-आर्यन लोगों ने न केवल हुर्रीयन लोगों को प्रभावित किया बल्कि उनमें से कुछ वहां के राजा भी बने, ऐसा तर्क किया जाता है। किन्तु कुछ सादृशता दर्शनिवाले ऊपर के कुछ नाम देखें तो चित्र भिन्न दिखाई देता है। पांच का पंजा, सात का सत्ता, नौ का नव्वा इन रूपों का प्रयोग आज भी भारतीय प्राकृत भाषाओं में दैनिक रूप में होता है। कुछ शब्दों को बलपूर्वक संस्कृत में रूपांतरित कर उनके संस्कृत से रूपांतरित (अपभ्रंश) हो कर हुर्रीयन भाषा में प्रविष्ट होने का दावा किया जाता है। यदि हम ‘विर्यमास्द’ इस शब्द का उदाहरण देखें तो ‘मास्दा’ शब्द प्राचीन पर्शियन शब्द ‘माइदा’ के साथ साधर्म्य दर्शता है इसलिए ‘विर्य’ शब्द मूलतः ‘प्रिय’ होना चाहिए ऐसा तर्क किया जाता है। किन्तु ‘प्रियमाइदा’ यह शब्द /संबोधन ना पर्शियन में है ना ‘प्रियमेधा’ के रूप में वैदिक संस्कृत में है।

ये शब्द मूल संस्कृत से अपभ्रंशित हुए या उनका ‘हुर्रीयनीकरण’ हुआ ऐसा भी एक तर्क दिया जाता है। किन्तु मूल इंडो-युरोपियन शाखा के ही लोग अपनी ही भाषा के शब्दों का, कम से कम लिखित रूप में अपभ्रंश क्यों करेंगे, यह प्रश्न यहां उत्पन्न होता है। यहां हमें यह भी ध्यान रखना होगा की भाषा का प्रवाह कभी उल्टा नहीं बहता। भारत में आए स्थानांतरीत इंडो-युरोपियन यहां अपनी मूल वैदिक भाषा को भूले नहीं किन्तु मितान्नी राज्य में सत्ता स्थापन करने के पश्चात भी वे उनकी भाषा भूल गए और इसी कारण अंकनाम, व्यक्तिनाम अपभ्रंशित हुए यह तर्क स्वीकारा नहीं जा सकता। इसके विपरीत भाषा विशेषज्ञों के अनुसार ये शब्द संभवतः वेदपूर्व भाषा के थे, जिन्हें हुर्रीयन लोगों ने उनकी भाषा के स्वभावानुकूल अपने रूप में ढाला था। इन शब्दों का मूल सिंधु प्रांत की प्राकृत भाषा से आने की गहरी संभावना व्यक्त की जाती है। सिंधु संस्कृति का मितान्नी लोगों के साथ व्यापार था यह बात यहां कहनी आवश्यक है।

स्थानांतर सिद्धान्त की छेद्यता

ऊपर दी गई सूचि के अंकनाम देखे जाएं तो वे भारतीय प्राकृत भाषाओं के निकट हैं। घोड़ा इस शब्द के लिए अस्सुवा (अश्व) यह अपभ्रंशित शब्द मध्य आशिया सेन हुर्रीयनों तक पहुंचने के लिए इंडो-आर्यन लोगों का स्थानांतर होना आवश्यक नहीं था क्योंकि भौगोलिक दृष्टि से यह भाग प्राचीन ईरान के निकट ही है। इस भाग में दीर्घ काल तक सांस्कृतिक आदानप्रदान होना स्वाभाविक था। साथ ही, ‘अश्व’ यह शब्द इंडो-युरोपियनों द्वारा ही निर्माण किया था इसका कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं। जैसे, आरों के पहिए तथा ऊनी कपड़ों के संबंध में

डेव्हिड अँथोनी कहते हैं कि, मूलतः रथ के पहिए की खोज कहां हुई और उन से कपड़े बनाने की शुरुआत सही मायनों में कहां हुई, इसके कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं।¹²

सिंधू संस्कृति के इस प्रदेश में लंबे समय से व्यापार करने के कारण यहां के अंकनाम और साथ ही कुछ व्यक्तिनाम भी हुर्रीयन लोगों द्वारा उपयोग में लाए जाना भी संभव है। असुर शहर तथा असुरों का राज्य यानी असीरिया भी इसी भाग से जुड़ा हुआ है। ईजिस से ले कर भारत तक का यह अखंडित क्षेत्र ईसापूर्व २६०० से सांस्कृतिक आदानप्रदान का महामार्ग था। इसके विपरीत ये कथित इंडो-युरोपियन लोग व्यापारी तो दूर, कृषक के रूप में भी प्रसिद्ध नहीं थे, वे तो पशुपालक थे। इनकी संस्कृति अप्रगत होने के कारण उसके कोई अवशेष आज अस्तित्व में नहीं हैं। जो हैं वो केवल अश्वों की रथोंसहित दफनभूमियां और छिटपुट बस्तीयां। इसका भी कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं कि वे लोग इंडो-युरोपियनों ही के पूर्वज थे तथा पुरा-आर्यभाषा बोलते थे। यह एक तर्क मात्र है और इस तर्क के आधार से कोई विशाल सिद्धान्त रचना विज्ञान के विरुद्ध है। ऐसा भी दावा किया जाता है कि, वहां के लोगों को अश्वों का ज्ञान था और उन्होंने ही अश्वों को पालतू बनाया। इस दावे का आधार केवल अभी तक के सब से प्राचीन अङ्गोनोवा, बोटाई जैसे भागों से प्राप्त अवशेष मात्र हैं, किन्तु वास्तव में अश्वों की विभिन्न प्रजातियां पृथक पर उपस्थित होने के कारण उन्हें पालतू बनानेवाले ये ही पहले लोग थे, ऐसा दावा सयुक्तिक नहीं है। इसी कारण घोड़े को ‘अश्व’ यह संज्ञा भी उन्हीं लोगों ने सब से पहले दी थी, ऐसा भी किसी प्रमाण के अभाव में कहा नहीं जा सकता। हुर्रीयन किकुली ने भी ‘अश्व’ शब्द का प्रयोग नहीं किया है और ‘अस्सुवा’ इस प्राकृतसदृश शब्द का उपयोग किया है। इसलिए, कहा जाता है कि, ये शब्द वैदिक भाषा से नहीं बने हैं और वैदिक भाषा में पाए जानेवाले अंक तथा व्यक्तिवाचक नाम हुर्रीयन भाषा में पाए गए पुरा-प्राकृत शब्दरूपों के पश्चात के शब्दरूप हैं।

‘अश्व’ शब्द का मूल स्वरूप सही मायनों में क्या था? अस्स, अस्सुवा या अश्व? ‘अश्व’ यह ध्वनिप्रगत रूप होने के कारण वह मूल नहीं हो सकता। फिर किस वास्तविक शब्द को संस्कारित कर के यह हा शब्द बनाया गया? पुरा-संस्कृत (प्रोटो-इंडो-युरोपियन) यही आद्य भाषा है इस पूर्वधारणा के साथ विश्व के प्रत्येक शब्द में संस्कृत मूल खोजने का मोह स्वाभाविक कहा जा सकता है, किन्तु वेदों के समकालीन एवं सम-भूगोलीय प्राचीन पर्शियन भाषा के लिए क्या कहें? वैदिक भाषा में जब ऋग्वेद लिखा गया उसी समय प्राचीन पर्शियन भाषा में अवेस्ता का गाथा यह भाग लिखा गया। वैदिक और अवेस्ती भाषाओं में तथा धर्मकल्पनाओं में आश्वर्यजनक रूप से समानता तो है ही, किन्तु फिर भी उनमें भेद भी उतने ही हैं। इन समकालीन भाषाओं के कुछ शब्दों की तुलना करना महत्वपूर्ण सिद्ध होगा। इससे हमें यह भी अनुमान होगा कि, मूल भाषा कौन-सी थी और संस्कारित भाषा कौन-सी है।

| | |
|---------|--------|
| अवेस्ता | ऋग्वेद |
| यन्त्र | यज्ञ |
| एउआ | एक |
| दुआ | द्वे |
| श्राद्ध | त्रि |
| हम | सप्त |
| अहुर | असुर |
| झरण्य | हिरण्य |
| झाओतार | होतार |

ऊपर दिए गए अल्प उदाहरणों से हम देख सकते हैं कि, गाथा की भाषा और ऋग्वेद की भाषा इन में ध्वनि एवं उच्चारण को ले कर अंतर है। समकाल में यानी ईसापूर्व १५०० से ईसापूर्व १२०० में, एक ही भूप्रदेश

में तथा समान धर्मकल्पना रखनेवाली दो भाषाओं में यह ध्वनीवैधर्म्य क्यों आया होगा यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। सिंधु संस्कृति इससे भी कम से कम दो हजार वर्ष पुरानी है यह भी ध्यान रखना होगा। किसी भी भाषा के शब्द यकायक जन्म नहीं लेते। समय के साथ उनका अर्थ एवं उच्चार का विकसित होते हैं। अंकनाम अथवा दैनिक उपयोग की वस्तुओं के नामों का जन्म कहां हुआ और फिर वे किस प्रकार प्रसारित हुए इस विषय में हम केवल अनुमान ही लगा सकते हैं, किन्तु उस संस्कृति का प्रगत स्वरूप तथा उसकी आवश्यकताएं इनसे शब्द या संज्ञाओं के जन्मस्थान का अनुमान लगाया जा सकता है। दूसरे, नगररचनाशास्त्र, कृषि, उत्पादन और व्यापार करनेवालों की भाषा अस्थायी पशुपालक रहे कथित आर्यों की अपेक्षा अप्रगत थी यह सिद्धान्त प्रस्तुत करना और उसे सत्य मान लिया जाना मांडला उल्टी गंगा के समान है।

अवेस्ता तथा ऋग्वेद के कुछ समान शब्दों की तुलना करें तो हम देख सकते हैं कि, अवेस्ता के शब्द उस भाषा की प्राचीन अवस्था दर्शते हैं और ऋग्वेद के वही ध्वनिबद्दल किए गए शब्द भाषा की संस्कारित तथा उत्तरकालीन अवस्था दर्शते हैं। इसका अर्थ आज ऋग्वेद की जो भाषा है, वह मूल नहीं बल्कि मूल भाषा पर ध्वनिसंस्कार करने के पश्चात उसका बदला हुआ रूप है। यदि यह मत मान्य न करना हो, तो फिर ऋग्वेद को अवेस्ता का उत्तरकालीन मानना होगा किन्तु यह संभव नहीं है क्योंकि, स्वयं झरथुष्ट्र, विस्तास्प से ले कर कई अवेस्ती नायक ऋग्वेद में समकालीन दर्शाएं गए हैं। इसलिए, इन दो ग्रन्थों का समकालीन व समान भूप्रदेश का होना माना जाना आवश्यक है।

फिर इन दो धर्मग्रन्थों की ध्वनि एवं व्याकरण रचना में इतना अंतर क्यों है? इ तथा ओ इन स्वरों के अनेक आविष्कार अवेस्ती भाषा में होते हैं, जैसे वैदिक भाषा में नहीं होते। सब से महत्वपूर्ण बात यानी वैदिक भाषा के ट, ठ, ड, ण और ळ ये मूर्धन्य वर्ण ना अवेस्ता में हैं ना अन्य किसी कथित इंडो-युरोपियन भाषा में हैं। फिर वे वैदिक भाषा में कहां से आए? इसका कारण है इंडो-युरोपियन भाषक जैसे-जैसे स्थानांतरीत हुए, वैसे-वैसे उन्होंने स्थानीय रूप में अपनी भाषा में बदलाव लाए और यह विकास पश्चिम के इंडो-युरोपियनों ने स्वीकार नहीं किया। यही कारण है कि, इन वर्णों को इंडो-युरोपियन भाषा की विलंब से हुई प्रगती कहा जाता है। पश्चिम की इंडो-युरोपियन गुट की न होनेवाली भाषाओं में भी ये वर्ण क्यों नहीं हैं इसपर भी विचार किया जाना आवश्यक है। अपितु पश्तो, बुरुशास्की, नुरिस्तानी आदि भाषाओं में ये वर्ण पाए जाते हैं। ये भाषाएं गान्धारी और पैशाची इन प्राकृत भाषाओं की वंशज भाषा हैं। ध्यान रहे की यह भारत का सीमावर्ती प्रदेश है। ये मूर्धन्य वर्ण प्राचीन पर्शियनसहित किसी भी अन्य कथित इंडो-युरोपियन भाषा में नहीं हैं। भाषाविदों के मन में इस बात को ले कर काफी संभ्रम है कि, वे वैदिक भाषा में ही कैसे आए। संभवतः आर्यों ने हिंदुकुश पर्वत लांघते समय वहां की बोलीयों से इन मूर्धन्य वर्णों का स्वीकार किया ऐसा भी एक तर्क है, किन्तु आर्यों ने भारत में आते हुए इस प्रदेश में कितना समय व्यतीत किया इस संबंध में कोई भी ठोस कथन नहीं किया गया है।

ऋग्वेद की रचना ईसापूर्व ५००० के आसपास हुई और वही भाषा प्राचीन है ऐसा तर्क कुछ वैदिकवादी देते हैं। किन्तु अश्व तथा रथों के पुरातत्वीय प्रमाण मूलतः ईसापूर्व दो हजार के आगे ना जाने के कारण तथा ऋग्वेद की रचना जहां ये दफनभूमियां प्राप्त हुई हैं उस पौर्णियाक स्टेपे भाग में ना हो कर दक्षिण अफगानिस्थान में होने के कारण ऋग्वेद का समय किसी भी स्थिती में ईसापूर्व १५०० के पीछे जा नहीं सकता इस ओर ध्यान देना आवश्यक है। ऋग्वेद तथा अवेस्ता का सब से प्राचीन भाग गाथा, ये समकालीन एवं समान भूगोल से युक्त हैं क्योंकि दोनों में कुछ समान व्यक्तिवाचक नाम तथा टोलीयों के नाम, यहां तक की, स्वयं झरथुष्ट्र का उल्लेख पाया जाता है। आईए, अब इसके कुछ उदाहरण देखें।

अवेस्ता ऋग्वेद

जरथुस्ट्र जरुथ (ऋ ७।१।७, ७।१।६, १०।८।०।३)

| | |
|-----------|----------|
| विष्टाष्प | इष्टाश्व |
| बएतास | वेतासू |
| अर्जस्प | ऋजाश्व |
| हुमायक | सोमक |
| हुशदेव | सहदेव |

नाभ्योंगा गवतम् नोढस गौतम

इसके अतिरिक्त कई नदीयां तथा पर्वतों के नाम भी दोनों ग्रन्थों में समान हैं। दोनों का ज्ञात भूगोल एक जैसा ही है इस कारण गाथा (प्राचीन अवेस्ता का भाग) और ऋग्वेद का प्रारंभिक भाग एकही समय में और एक ही प्रदेश में लिखा गया इसमें कोई संदेह नहीं रहता। फिर भी ऋग्वेद की भाषा अवेस्ता की भाषा से प्राचीन लगती है। ऋग्वेद का भूगोल प्रायः दक्षिण अफगानिस्थान का है। अवेस्ता का भूगोल उत्तर-पूर्व अफगानिस्थान है यह बात उसमें सम्मिलित विभिन्न भौगोलिक वर्णनों से सिद्ध हो चुकी है। दोनों ग्रन्थों में वर्णित भूगोल सामायिक है। निम्न चुनिंदा उदाहरणों से भी यह पर्यास रूप से समझा जा सकता है।

१) ऋग्वेद में रसा नदी का उल्लेख प्रायः आता है। अवेस्ता में इसी नदी को रहा (अथवा रन्हा) कहा गया है। टायग्रिस नदी का ही यह पर्शियन नाम था। दोनों धर्मग्रन्थों में यह नदी गूढ़, रहस्यमयी दर्शाई गई है और उसके वर्णनों में भी अद्भुत समानता है। यह नदी दोनों लोगों को ज्ञात और पश्चिम दिशा की सब से दूरस्थ, ज्ञात विश्व की सीमा थी ऐसा स्कार्जेवो इन्होंने सिद्ध किया है।^३ ऋग्वेद में उल्लेखित अन्य अधिकांश नदीयां पश्चिमोत्तर (अफगानिस्थान, इराक और सिंध के पश्चिम की उपनदीयां) भाग में स्थित हैं। इसके उलट गंगा-यमुना इन भारतीय नदीयों का उल्लेख केवल एक ही बार और वह भी बहुत समय बाद की गई रचना माने गए दशम मंडल के नदीसूक्त में पाया जाता है। दशम मंडल यह ऋग्वेद की सब से आखिर में की गई रचना है, इस बात पर सभी प्राच्यविद्या अभ्यासकों का एकमत है।

२) ऋग्वेद में वर्णित दास-दस्यु और अवेस्ता में वर्णित दाह-दह्यु-दछ्यु एक ही हैं तथा वे अफगानिस्थान के सिस्तान प्रांत के निवासी थे। दास अफगानिस्थान का एक विशाल समाज है और उनके वैदिकों के विरुद्ध लड़ाई-झगड़े हुआ करते थे। दास-दस्यु कभी भी भारत के निवासी नहीं थे यह प्रा. प्रमोद पाठक का कथन सत्य है क्योंकि झरथुष्ट स्वयं अपने आप को 'दछ्युनाम सुरो' (दस्यु-श्रेष्ठ) कहलाता था और अवेस्ता के अनुसार दाह (दास) एक प्रतिष्ठित समाज है। झरथुष्ट का उल्लेख ऋग्वेद में है (ऋा ७।१।७) जिसमें उसे अग्नि में जलाकर मार देने की बात लिखी है। अन्य अवेस्ती एवं ग्रीक प्रमाणों के अनुसार झरथुष्ट को अग्नि ही में जलाकर मार दिया गया था। झरथुष्ट का आश्रयदाता राजा विस्ताशप का उल्लेख ऋग्वेद में इष्टाश्व के नाम से किया गया है और उसका शत्रु अरजास्प ऋग्वेद में ऋजाश्व कहलाता है। ध्यान दें कि दोनों का अर्थ एक ही है। नोढस गौतम इस ऋग्वेदी ऋषि का उल्लेख अवेस्ता में है जिसके अनुसार झरथुष्ट के साथ हुए एक तात्त्विक विवाद में उसे पराजित किया गया था। इन दोनों ग्रन्थों का भूगोल निकट रहे बिना इतनी पहचान एवं इतना शत्रुत्व होना असंभव है, इसलिए, ऋग्वेद की रचना दक्षिणी अफगानिस्थान में ही हुई इस विषय में कोई संदेह नहीं रहता।

३) ऋग्वेद में उल्लेखित अधिकांश जनजातियां पश्चिमोत्तर भारत और अफगानिस्थानसहित ईरान और तुर्कमेनिस्तान से थी और उनका अस्तित्व आज भी है। जैसे, तुर्वश (तुर प्रांत के तुरानी/तुर्क), पञ्च (पञ्चतुन),

भलानस (बोलन दर्दे के निवासी बलुची लोग), दास-दस्यु (अफगानिस्थान के लोग), पर्शू (पर्शियन लोग), गान्धारी (गान्धार/कंदाहार प्रांत के लोग), पार्थव (पार्थियन लोग), अलिन (काफिरीस्तान के लोग)। ऐसे अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं।

भूगोल निकट होने के कारण ऐसे निकट प्रदेशों की भाषाओं में जो समानता होती है, वैसी ही वह मूल ऋग्वेद में आना स्पष्ट है। यानी ऋग्वेद की मूल भाषा अवेस्ता के समान (विशेष कर गाथा की भाषासमान) थी। महाराष्ट्रीय प्राकृत तथा शौरसेनीय प्राकृत इन निकट के प्रदेशों की भाषाओं में जितनी समानताएं थी उतनी ही वह इन दो भाषाओं में भी रहनी आवश्यक है किन्तु वास्तव ऐसा नहीं है। उल्टे वैदिक भाषा पर जितना प्रभाव अवेस्ती भाषा का है उतना ही प्रभाव प्राकृत (विशेष रूप से गान्धारी और शौरसेनी) भाषाओं का है। इसका अर्थ स्पष्ट है कि, मूल ऋग्वेदी भाषा भारत में आने के पश्चात संस्कारित हुई और एक नई वैशिष्ट्यपूर्ण मिश्र भाषा निर्माण हुई।

यही कारण है कि, अवेस्ता के गाथाओं की भाषा, प्राकृत भाषा तथा ऑस्ट्रिक, द्रविड़, कोल और मुंडादि भाषाओं का एकत्रित प्रभाव दर्शनेवाली एक पूर्णतया नई भाषा बनी हो तो इसमें कोई आश्वर्यजनक बात नहीं है। मूल भाषा के शब्दों का स्थानीय भाषाओं में अनुवाद किए जाने के कुछ उदाहरण स्पष्ट दिखाई देते हैं। वंदारेमैनी (अवेस्ती अर्थ - भय उत्पन्न करनेवाला) इस व्यक्तिवाचक नाम का ऋग्वेदीय अनुवाद भयमान किया गया है। उसी तरह विदारप्शनिक (अवेस्ती अर्थ - उत्तम पेहराव करनेवाला) का ऋग्वेदीय अनुवाद है, अंबरीश - (यानी उत्तम वस्त्र परिधान करनेवाला)। जिन पारसी शब्दों के लिए प्रतिशब्द नहीं मिले, उन्हें मूल रूप में ही रखे जाने के कारण बाद के भाष्यकारों में उनके अर्थ को ले कर संभ्रम उत्पन्न होने लगा और इसी कारणवश यास्क (उसके पूर्वाचार्यों सहित) ने निरुक्त लिखा। कौत्स नामक एक भाष्यकार ने ऋग्वेद निरर्थक होने का वक्तव्य किया क्योंकि, यास्क के पश्चात के भाष्यकारों का मूल भाषा के साथ कभी कोई संबंध नहीं था, इसलिए उनके मन में भ्रम उत्पन्न होना स्वाभाविक था। निरुक्तादि ग्रन्थ और उसके पश्चात सायन भाष्य का जन्म इस प्रकार हुआ। किन्तु फिर भी जब ऋग्वेद का अर्थ जानने में समस्या होने लगी, तब अवेस्ता की सहायता लेना आवश्यक बन गया।

आर्य भारत से पश्चिम की ओर गए और उन्हीं की एक शाखा ने अवेस्ता की रचना की ऐसा एक मतप्रवाह है। इसका प्रतिवाद करते हुए मायकेल विट्जेल कहते हैं -

"...On the other hand, while we can observe some changes common to all Iranian languages (s > h,p,t,k + consonant >f, •&, x + cons., etc.), Avest. often is quite archaic, both in grammar and also in vocabulary, while Ved. seems to have progressed much more toward Epic and Classical Sanskrit (loss of injunctive, moods of the perfect, aorist, etc.). The Avest. combination within a sentence of neuter plural nouns with the singular of the verb is hardly retained even in the other older IE languages. The Old Avest. of Zarafustra, thus, is frequently even more archaic than the RV and therefore simply too old to have moved out of India after the composition of the RV (supposedly, before 2600-5000 bce)."⁴

(हिन्दी सारांश- झरथुष्ट्र का पुराना अवेस्ता भाषा की दृष्टि से ऋग्वेद से भी प्राचीन है इसलिए आर्य भारत के थे और यहां से वे बाहर गए, यह सत्य नहीं है।)

हमारे विवेचन की दृष्टि से यहां दो बातें स्पष्ट होती हैं-

१. भाषिक दृष्टि से अवेस्ता ऋग्वेद से प्राचीन है।
२. ऋग्वेद और अवेस्ता एक ही समय में रचे गए।

यह स्पष्ट है कि ये दो उक्तियां परस्पर विरोधी हैं। दोनों ग्रन्थ यदि समकालीन हैं, तो यह भावना स्वाभाविक है कि उनमें से एक प्राचीन और दूसरा अर्वाचीन नहीं हो सकता। किन्तु मान लें कि, किसी समकालीन ग्रन्थ पर भाषिक संस्कार हो कर एक नया संस्करण तैयार किया गया हो, तो वह अर्वाचीन ही लगेगा और ऋग्वेद के संबंध में यही हुआ है। ऋग्वेद की भाषा उत्तरोत्तर संस्कारित होती गई यह हम देख सकते हैं। ऐसा नहीं की इस ओर भाषाविदों का ध्यान नहीं गया। उन्होंने अपने मत स्पष्ट रूप से लिख रखे हैं। इसकी सविस्तर चर्चा हम अगले प्रकरण में करेंगे।

संदर्भ-

-
- ¹ Encyclopedia of Indo-European Culture edited by J. P. Mallory, Douglas Q. Adams, Taylor & Francis, 1997)
 - ² ‘The Horse, the Wheel, and Language: How Bronze-Age Riders from the Eurasian Steppes Shaped the modern world’, by David W. Anthony, Pub.: Princeton University Press, 2007, p. 77
 - ³ ‘The Videvdad : its Ritual, Mythical Significance’ , by P.O. Skjaervo in ‘The Age of the Parthians (The Idea of Iran)’, edited by Vesta Sarkhosh Curtis, Sarah Stewart, Pub.: I. B. Tauris, 2010, pp 110-11
 - ⁴ The Indo-Aryan Controversy: Evidence and Inference in Indian History edited by Edwin Bryant, Laurie L. Patton, Psychology Press, 2005, pp 366-367

पांच

प्राकृत ही है आद्य भाषा!

ऋग्वेद की भाषा जितना दावा किया जाता है उतनी पुरानी नहीं है। वह एक उत्तरकालीन, कृत्रिम रूप से तैयार की गई संकरित भाषा है और इस बात के अनगिनत प्रमाण उपलब्ध हैं। इस भाषा को किसी भी भाषागुट में सम्मिलित करना वास्तव में भाषाशास्त्रीय अन्याय है। स्वयं ऋग्वेद में ही इस भाषा को ध्यानपूर्वक निर्माण किए जाने का उल्लेख है।

ऋचा संख्या १०.७१.१-२ से यह स्पष्ट होता है कि, वैदिक ऋषियों ने एक नई भाषा का आविष्कार किया। प्रस्तुत ऋचा में ऋषि कहते हैं, कोई धान से अच्छे दाने चुनकर अलग निकालने की क्रियासमान कई बोलीयों से शब्द चुनकर इस भाषा को बनाया गया। विभिन्न बोलीयों से शब्द ले कर इस भाषा के बनाए जाने का निर्णायक प्रमाण ऋचा संख्या ८.१.५ तथा ८.९५.५ इन ऋचाओं में पाया जाता है। प्रा. प्रमोद पाठक के अनुसार पश्चिमी विद्वानों द्वारा दिए गए पहले संस्कृत और पश्चात में प्राकृत भाषाएं यह अनुक्रम अयोग्य हैं।^१

जे. ब्लॉख के वैदिक भाषा के संबंध में कथन का सारांश कुछ ऐसा है - “ऋग्वेद और अवेस्ता की भाषाओं में निकट की समानता है और कुछ ध्वनियों के बदलने से इस भाषा को सीधे संस्कृत में रूपांतरित किया जा सकता है ... ऋग्वेद की भाषा का प्राचीन ईरानी भाषा के साथ साधर्म्य होने के कारण वह शुद्ध और निश्चितीकरण करनेवाली भाषा है और भाषाशास्त्रीय तुलना के दृष्टि से एक पक्का आधार सिद्ध होगी ऐसी अपेक्षा के विपरीत ऐसा संभव नहीं है। ऋग्वेद के दशम मंडल को छोड़ शेष भाग का अभ्यास किया जाए तो हम देख पाते हैं कि, इनपर कई संस्करण हो चुके हैं और यदि उन परतों को दूर करें तो किसी एक शुद्ध भाषा का संबंध सामने आता है। ऋग्वेद के संपादकों ने अन्य धार्मिक साहित्य की भाषा को किसी हृद तक अपनाया है। ऐसी भाषिक उधारी के कई उदाहरण ऋग्वेद में पाए जाते हैं। ऋग्वेद का व्याकरण भी इस भाषिक प्रदुषण से दूषित होने के कई संकेत देखे जा सकते हैं। मूल वैदिक भाषा अवेस्ता की पश्चिमी भाषा थी, जिसमें ‘र’ और ‘ल’ ये वर्ण मिश्र हो जाते हैं। दो भाषाओं का मिश्रण होते समय जो भ्रम उत्पन्न होता है वह ऋग्वेद के व्याकरण में दिखाई देता है।”^२

रिचर्ड पिशेल कई उदाहरणों के साथ यह स्पष्ट करते हैं कि, “प्राकृत भाषाओं को किसी भी एकही उगम तक ले जाया नहीं जा सकता। भारतीय विद्वान तथा हॉफ्फर, लास्सेन, जैकोबी आदि की मान्यता के विपरीत कम से कम यह निश्चित है कि, वे संस्कृत भाषा से जन्मी नहीं हैं। वैदिक भाषा का शब्द संग्रह और व्याकरण प्राकृत स्वभाव से मिलते हैं, अभिजात संस्कृत के स्वभाव के साथ नहीं। इसलिए यह नहीं स्वीकारा जा सकता कि, प्राकृत भाषाएं संस्कृत से विकसित हुई हैं।”^३

हरगोविन्ददास टी. सेठ सप्रमाण सिद्ध करते हैं कि, “प्राकृत भाषाओं के कई शब्द तथा प्रत्यय संस्कृत की अपेक्षा वैदिक भाषाओं के साथ अधिक मेल खाते हैं। प्राकृत भाषाएं यदि संस्कृत से उत्पन्न हुई होती तो ऐसा नहीं होता। वैदिक भाषा एवं प्राकृत भाषाएं संभवतः पुरातन प्राकृत ही से उत्पन्न हुई हैं क्योंकि इसके बिना ऐसा पाया नहीं जाता था। वैदिक भाषा प्राकृत की समकक्ष अथवा प्राकृतसमान है, न कि संस्कृत की और इसमें भी वह पाली भाषा के साथ अत्यधिक समान दिखाई देती है।” अपना यह मत सिद्ध करने के लिए उनके द्वारा प्रस्तुत किए गए कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं -

१. वैदिक भाषा में ‘ऋ’ कार के स्थान पर प्राकृत के समान ‘उ’ कार आता है। जैसे, वृंद- वुंद, ऋतु-उउ, पृथिवि- पुहवी, कृत-कुठ।

२. प्राकृत में संयुक्त वर्णों के स्थान पर एक व्यंजन लुप्त होता है और पूर्व न्हस्व स्वर दीर्घ हो जाता है, जैसे दुर्लभ-दूलह, विश्राम-वीसाम आदि

३. प्राकृत में कई बार 'द' का 'ड' हो जाता है, जैसा की वैदिक भाषा में भी होता है। जैसे, दंड-डंड, दंस-डंस इत्यादि

४. तृतीया विभक्ति के बहुवचन में देव आदि अकारान्त शब्दों के रूप प्राकृत में देवेहि, गभीरेहि, ज्येठठ्येहि ऐसे होते हैं। ऋग्वेद में भी देवेभि, गम्भीरेभि, ज्येष्ठेभि इस प्रकार के रूप पाए जाते हैं।

५. वैदिक भाषा में भी प्राकृत की तरह चतुर्थी के स्थान पर पष्ठी विभक्ति होती है।

६. प्राकृत में कई बार द्विवचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग किया जाता है। वैदिक भाषा में ऐसा प्रयोग प्रचुर है। जैसे इंद्रावरुणौ के स्थान पर इंद्रावरुणा, नरौ हे के स्थान पर नरा हे इत्यादि⁴

वैदिक भाषा में अनगिनत प्राकृत शब्द पाए जाते हैं, जो इंडो-युरोपियन भाषा को अज्ञात थे। जैसे मेर्होफर ने सिद्ध किया कि, ऋग्वेद में पाए जानेवाले कई शब्दों का मूल उपसर्ग युक्त किंतु इंडो-युरोपियन गुट में ना होनेवाली भाषाओं में है। मायकेल विट्जेल इन्होंने 'क-का' इस मुंड या 'कि' उपसर्ग युक्त शब्दों की तुलना मुंड एवं खासी भाषा के व्यक्ति के पदवाचक स्थान दर्शनेवाले शब्दों के साथ की है। इसमें उन्होंने अनार्य शब्दों की एक सूचि तैयार की। ये शब्द ऐसे हैं –

काकम्बीर (एक प्रकार का वृक्ष), ककर्दु (लाठी), कपर्दिन् (जटा), कर्पास (कपास), कवन्ध (शीरविरहित धड़), किमीद (भूतों का एक प्रकार), कुलाय (घोसला), कुलिश (कुल्हाड़ी), उंदुरु (मूषक), लांगल (हल), नारिकेल (नारियल), नीर (पानी), बिल (बिल) आदि।

मायकेल विट्जेल आगे कहते हैं कि, वैदिकों ने ये शब्द संभवतः सिधू संस्कृति की विस्मृतप्राय भाषा से लिए हैं। आरंभ में उनका अनुमान था कि, ये शब्द मुंड या खासी इन भाषाओं से हैं, किन्तु बाद में उन्होंने अपना यह मत बदल दिया और कहा की वे कुभा-विपाशा बोली से आए हैं।⁵ प्रश्न यह है कि, यदि ये शब्द किन्हीं विस्मृत भाषाओं से लिए होते तो क्या वे आज भी प्रचलित रह पाते? इसका अर्थ है वेदपूर्व भारतीय भाषाएं समय के साथ बदलावों को स्वीकारते हुए आज भी टिकी हैं।

सन १९५५ में बरो इन्होंने यह सिद्ध किया कि, ऋग्वेद में पांच-सौ से अधिक शब्द अनार्य भाषाओं से आए हैं और इनका प्रयोग शुरू के मंडलों में कम किन्तु आगे बढ़ती संख्या में होता जाता है।⁶ इसका अर्थ यही है कि, वैदिक लोग जैसे-जैसे अपने मूल स्थान से बढ़ते हुए मार्ग में कई स्थानों पर रुकते हुए पंजाब तक पहुंचे वैसे ऋग्वेद की पुनर्रचना में स्थानीय भाषाओं का प्रभाव क्रमानुसार बढ़ता गया। उनके द्वारा जो शब्द लिए गए उनका प्राकृत भाषाओं से मूल रूप में ही स्वीकार किया गया है। इन में ध्वनिबदल कर के संस्कारित किए गए शब्द अंतर्भूत नहीं हैं। संस्कारित शब्दों को आर्य और मूल रूप में आयात शब्दों को अनार्य कहा गया।

वैदिक भाषा प्राकृत भाषाओं से मेल खाती है, संस्कृत से नहीं। अब तक की चर्चा में हमने देखा कि, प्राकृत भाषाएं वैदिक भाषाओं से प्राचीन हैं। प्रदेश निहाय प्राकृत भाषा उच्चारण एवं व्याकरण की दृष्टि से भिन्न हैं ऐसा स्वयं वैदिक साहित्य में भी कहा गया है। जैसे, कौशितकी ब्राह्मण में उद्दीच्य (उत्तर) प्रदेश की भाषा अधिक प्रसिद्ध होने की ओर निर्देश किया गया है (७.६) और तांड्य ब्राह्मण में पूर्व दिशा के व्रात्यों की भाषा की खिल्ली उडाई गई है (१७.४)। पतंजलि के 'महाभाष्य' में असुर लोगों द्वारा 'र' के स्थान पर 'ल' का उच्चारण किए जाने के कारण वे 'अरयः' के बजाय 'अलयः' कहते हैं, ऐसा उल्लेख है। उत्तरी भारत की प्राकृत भाषाओं में आज भी 'र' के स्थान पर 'ल' या 'ड' का उच्चारण किया जाता है और यह प्रवृत्ति पुरातन प्राकृत ग्रन्थों में भी दिखाई देती है। प्राकृत भाषाओं की ये प्रादेशिक विशेषताएं व्याकरणकारों ने भी अभिलिखित की हैं। मूलतः वैदिक भाषा कृत्रिम तथा प्राकृत भाषाओं को संस्कारित करने से बनी होने के कारण उसे या वैदिक आर्यों को प्राकृत भाषाओं के निर्माता कहना अनुचित है। मूल वेद रचयिता आर्यों का भारतीय उपखंड में अस्तित्व नहीं था और स्वाभाविक रूप से वे प्राकृत भाषा से अनभिज्ञ थे। यही कारण है कि, मूल वैदिक भाषा और उसमें लिखी गई ऋचाओं का सटीक आशय, आज पूर्णतया अज्ञात है।

मिश्र वैदिक भाषा के अस्तित्व में आने का काल निश्चित करना भी असंभव है क्योंकि इस भाषा का एक भी लिखित प्रमाण उपलब्ध नहीं है। यहां तक कि, नाणेघाट का लेख, शृंग सामंत दानभूति का अयोध्या लेख आदि यज्ञयाग के वर्णन प्राकृत भाषा में करनेवाले प्राचीन शिलालेखों में भी वैदिक भाषा का कोई प्रमाण नहीं मिलता, इसलिए ईसापूर्व पहली शताब्दी तक यह भाषा उसके आज के अवतार में अस्तित्व में थी ऐसा प्रमाणपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

मैक्समुल्लर को भी उन्नीसवीं शताब्दी में यह ज्ञात हो चुका था कि, ऋग्वेद की भाषा उत्तरोत्तर विकासाभिमुख रही है। उन्होंने कहा है कि, ऋग्वेद के दशम मंडल में पाए जानेवाला ‘पुरुष सूक्त’ भाषा एवं आशय के संबंध में बहुत ही उत्तरकालीन है। ऋग्वेद अन्यत्र कहीं भी में बसंत और ग्रीष्म ऋतुओं का उल्लेख नहीं है। ‘शूद्र’ शब्द भी अन्यत्र कहीं नहीं पाया जाता।⁷ इसका अर्थ केवल इतनाही है कि, इस सूक्त की रचना वैदिक प्रचारकों द्वारा भारत आनेपर वैदिक भाषा में सुधार ला कर उसे अधिक सुडौल बनाने के जो प्रयास किए, उनके अंतिम चरण में हुई है। कोलब्रुक के अनुसार भी इस सूक्त की रचना वैदिक भाषा को अधिक संस्कारित और शुद्ध बनाए जाने के पश्चात हुई है।⁸

वैदिक लोग जैसे-जैसे सिंध, पंजाब से होते बिहार की ओर बढ़ते गए वैसे ऋग्वेद-पश्चात वैदिक साहित्य की भाषा पर पहले के प्रांतों की भाषाओं का प्रभाव कम हो कर पश्चात के प्रांतों की स्थानीय भाषाओं का प्रभाव दिखाई देता है। ऋग्वेद की भाषा कई बोली भाषाओं का मिश्रण है। इसपर गान्धारी, शौरसेनी, अर्धमागधी एवं मागधी प्राकृत का प्रभाव दिखाई देता है।

ऋग्वेद में अवेस्ता के कई शब्द हैं किन्तु ऋग्वेद-पश्चात साहित्य में वे दिखाई नहीं देते। मायकेल विट्जेल के अनुसार ऋग्वेद की भाषा पर अधिक प्रभाव काबूल (गान्धार) से पंजाब तक के भाग की भाषाओं का है।⁹

इसका अर्थ वैदिक लोगों ने जो ऋग्वेद साथ लाया था, उसकी मूल भाषा में मार्ग के प्रत्येक प्रांत के अनुसार बदलाव होने की प्रक्रिया शुरू हो चुकी थी। इसी कारण मूल अवेस्ता समान भाषा से ऋग्वेद की भाषा का संबंध कम होता गया और नित्य नए प्रदेशों की स्थानीय भाषाओं का उसपर प्रभाव बढ़ता गया, जो स्वाभाविक कहा जा सकता है। हेल्मंड नदी की घाटी से पंजाब और वहां से मगध यह यात्रा दीर्घकालीन और कई पीढ़ीयों का रही होगी क्योंकि अन्यथा वैदिक भाषा पर स्थानीय भाषाओं का प्रभाव न होता। इसी दौरान मूर्धन्य वर्ण भी इस भाषा में प्रविष्ट हुए, कथित इंडो-युरोपियन भाषा के साथ आत्मिक बंध समाप्त हुए और एक स्वतन्त्र मिश्र भाषा का निर्माण हुआ। ऋग्वेद-पश्चात ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा में सुदूर मगध, विदेह और अंग देशों तक का प्रभाव दिखाई देता है, यह बात महत्वपूर्ण है। प्रदेशनिहाय भाषा और उसकी उच्चारण पद्धति में अंतर पड़ने का वास्तव स्वयं वैदिकों ने भी अभिलिखित किया है। ये प्रादेशिक भाषाएं वैदिक भाषा के आगमन से पूर्व वहां बोली जाती थी और इसलिए वैदिकों को अपने साहित्य में उनका उपयोग करना आवश्यक सिद्ध हुआ। किन्तु ऐसा करते हुए उन्होंने वैदिक भाषा के मूल ढाँचे में संशोधन करते हुए उन भाषाओं के प्रभाव का स्वीकार किया। परंपरागत रूप से जो प्रादेशिक भाषाएं बोली जाती थी, वे जनसामान्य के व्यवहारों में प्रचलित रही। स्पष्ट है कि, उनकी उत्पत्ति वैदिकों के कारण नहीं हुई और इस कारण इन मूल भाषाओं को वैदिकोत्तर (मिडल इंडो-युरोपियन) भाषाएं कहना अवैज्ञानिक है। उपलब्ध कोई भी प्रमाण इसकी पुष्टि नहीं करते। ऋग्वेद और अवेस्ता की भाषाओं में (विशेष रूप से शब्दसंग्रह) यद्यपि काफी समानता है, ऋग्वेद-पश्चात साहित्य पर अवेस्ता के शब्दसंग्रह का कोई प्रबाव दिखाई नहीं देता, जिसका अर्थ है, तब तक वैदिकों का प्राचीन ईरान के साथ संबंध/संपर्क पूर्ण रूप से खंडित हो चुका था।

यहां यह भी देखना आवश्यक है कि, वैदिक भाषा किस समय की प्राकृत भाषाओं से प्रभावित हुई और इसमें समय के साथ क्या बदलाव आते गए, क्योंकि आज ऋग्वेद की जो भाषा है वह पूर्ण रूप से वैदिकों द्वारा विभिन्न स्थानीय भाषाओं से शब्दों को उधार लेते हुए अपनी भाषा में जो बदलाव लाए उनसे ही बनी है ऐसा कहा नहीं जा सकता। पुरा-वैदिक भाषा का कोई भी लिखित प्रमाण भारत में प्राप्त नहीं हुआ है। श्रौत यज्ञों का वर्णन करनेवाले शिलालेख भी प्राकृत ही में हैं, वैदिक भाषा में नहीं। साथ ही, जिन प्राकृत भाषाओं तथा उनके

व्याकरणों का प्रभाव आज की वैदिक भाषा में दिखाई देता है, वे ईसवी की तीसरी शताब्दी के आसपास की प्राकृत भाषाएँ हैं और तत्कालीन व्याकरण के नियम वैदिक भाषा में सहज रूप से देखे जा सकते हैं। ईसापूर्वी तीसरी शताब्दी से ईसवी की पहली शताब्दी इस समयावधि के उपलब्ध साहित्य एवं शिलालेखों में प्राकृत शब्दसंग्रह एवं व्याकरण में हुए बदलाव हम देख सकते हैं। यद्यपि महावीर और बुद्ध के समय भी वैदिक भाषा थी उसका तत्कालीन स्वरूप आज ज्ञात नहीं है। इन महापुरुषों के समय वेदों की एक भाषा थी और उसे छांदस कहा जाता था, बस इतनीही जानकारी बौद्ध साहित्य से हमें प्राप्त होती है। तत्कालीन भाषा के नमूनों के अभाव के कारण महावीर-बुद्ध काल में जो वैदिक भाषा थी वही उससे पहले भी थी, आज के वेदों में भी है और इसमें कोई भी ध्वनिबदल किए नहीं गए ऐसा निश्चित निवेदन कोई भी विद्वान् नहीं कर सकता।

इसके अतिरिक्त, विष्णुपुराण की एक पुराकथा (अध्याय चार) के अनुसार ऋचाओं की वेदराशी में रचित अधिकांश वेद विस्मृती में जाने के पश्चात महर्षि वेदव्यास ने विभिन्न स्थानों से अवशिष्ट वेदराशी इकट्ठी की और फिर उसकी विभाजनात्मक पुनर्रचना की। 'बृहदारण्योकोपनिषद्' के अनुसार ऋग्वेद में १२,०००, यजुर्वेद में ८,००० और साम वेद में ४,००० ऋचाएँ थीं तथा वेदों के ये तीन भाग प्रजापति ने किए थे, वेदव्यास ने नहीं। इसका अर्थ है मूल वेद की व्याप्ति कितनी थी और उसमें से शेष कितना रहा, इस संबंध में वैदिकों के मन में संभ्रम था।¹⁰ यदि यह मान लिया जाए कि, 'बृहदारण्योकोपनिषद्' में बाद में कोई मिलावट नहीं हुई, तो आज उपलब्ध तीनों वेदों की ऋचाओं की संख्या इतनी नहीं बनती। इसका क्या किया जाए? यानी प्रश्न केवल वैदिक मूल भाषा ही नहीं, बल्कि मूल वेद की व्याप्ति का भी है। यह बात इसका भी प्रमाण है कि, ऋग्वेद की ऋचाएँ पूर्ण रूप से कण्ठस्थ नहीं की गई, अन्यथा यह विसंगति उत्पन्न नहीं होती।

हमारे इस निष्कर्ष की पुष्टि पाणिनी का ग्रन्थ 'अष्टाध्यार्यी' में भी प्राप्त होती है। ब्रॉन्कहार्ट ने उनके ग्रन्थ में एक मूलभूत प्रश्न उपस्थित किया है कि, क्या वैदिक या छांदोस भाषा का व्याकरण लिखते समय पाणिनी को जो ऋग्वेद उपलब्ध था, उसकी भाषा आज उपलब्ध ऋग्वेद से मेल खाती थी? प्रश्न के उत्तर में उन्होंने स्वयं लिखा है की ऐसा नहीं था और "हम तक जो पहुंचा है वह ऋग्वेद का मूल स्वरूप नहीं है। ऋग्वेद के पाणिनीकालीन संस्करण में संधिविषयक जो व्याकरण के नियम थे, वे आज के संस्करण में नहीं पाए जाते। तत्कालीन संस्करण के ध्वन्यात्मक नियमों में यह अधिक स्पष्ट दिखाई देता है क्योंकि आज के संस्करण में कई ध्वनिबदल पाए जाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि, पाणिनी के पश्चात ऋग्वेद संहिता में संधि एवं ध्वन्यात्मकता में संशोधन हुआ है। इससे वेदों के ध्यानपूर्वक जतन किए जाने के कथन पर संदेह उत्पन्न होता है... तैत्तिरीय ब्राह्मण और तैत्तिरीय आरण्यक में तो आज व्याकरण के ऐसे प्रयोग पाए जाते हैं, जिनका पाणिनीने पूर्णतया निषेध किया था। पाणिनी के समय में तैत्तिरीय साहित्य जिस प्रकार की भाषा में उपलब्ध था वैसा आज नहीं है। यजुर्वेद की स्थिति भी यही है।"¹¹

प्रस्तुत लेखक ने पाणिनी का समय ईसवी की तीसरी शताब्दी माना है। इस पुस्तक में इस पर भी प्रकाश डाला गया है कि, वैदिक भाषा में उससे पहले के समय में कई बार संशोधन किया गया है। यदि तीसरी शताब्दी में पाणिनी के लिए उपलब्ध वैदिक साहित्य और आज उपलब्ध वैदिक साहित्य में यदि अंतर है, तो इसका अर्थ यही है कि, इस साहित्य पर पाणिनी के पश्चात भी संस्कार होते रहे हैं। ये संस्कार केवल भाषिक ही थे ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, वे आशय एवं कथन में भी होने की संभावना पूर्ण है। ध्वन्यात्मक संशोधन के पश्चात भी इस भाषा पर हुए प्राकृत तथा प्राचीन पर्शियन भाषाओं के प्रभाव कायम रहे हैं। कात्यायन आदि व्याकरणकार पाणिनी के समकालीन थे या फिर तुरंत पश्चात हुए थे। पतंजलि का 'महाभाष्य' संभवतः ईसवी की चौथी से पांचवी शताब्दी में सिद्ध हुआ। यद्यपि इन वैद्याकरणों का समय अकारण पीछे धकेलकर वैदिक, आर्ष तथा प्राचीन संस्कृति की समयरेखा विगाड़ने द्वारा भाषा के इतिहास को दूषित करने की एक विशेष प्रवृत्ति अस्तित्व में है, वह निरर्थक है।

प्राकृत तथा वैदिक भाषाओं के निकट के संबंध की देखादेखी कुछ वैदिकवादी विद्वानों का तर्क है कि, प्राकृत भाषाएँ वैदिक समय में और वैदिक भाषा ही से निर्माण हुई हैं। एक और सिद्धान्त के अनुसार स्थानीय

लोकभाषा तथा वैदिक भाषा के मिश्रण से या प्रभाव से प्राकृत भाषाएं उत्पन्न हुई हैं। यह सिद्धान्त प्राकृत भाषाओं का 'वेदकालीन प्राकृत' इस प्रकार का एक वर्ग भी निर्माण करता है। इसीलिए बोगाज्ञकोय का संधिपत्र और किक्कुली की अश्व प्रशिक्षण पुस्तिका के कई शब्द वैदिक भाषा की अपेक्षा प्राकृत भाषाओं से मेल खाते हैं, ऐसी इस सिद्धान्त की मान्यता है। इसी सिद्धान्त का ऐसा भी मानना है कि, वेदों की रचना करनेवाले ऋषि विभिन्न जनजातियों में जन्मे थे और इस कारण उनकी बोलीभाषाओं से वैदिक भाषा प्रभावित हुई। ये ऋषि वैदिक भाषा ही की अनेक बोलीभाषाएं बोलनेवाले थे और ये भाषाएं ही प्राकृत भाषाएं हैं।

किन्तु यह सिद्धान्त मान्य नहीं किया जा सकता। यदि प्राकृत भाषाएं समकालीन वैदिकों की ही बोलीभाषाएं थी, तो वैदिक भाषा पर प्राचीन फारसी भाषा का प्रभाव क्यों है, इस प्रश्न का उत्तर यह सिद्धान्त नहीं दे सकता। विश्व की प्रत्येक भाषा को उसके प्रदेश या किसी जाति का नाम है (जैसे, अंग्रेजी, फ्रान्सिसी, माहाराष्ट्री, शौरसेनी आदि) किन्तु वैदिक भाषा को केवल 'छांदस' या 'छंदसि' यही दो संबोधन प्राप्त हैं, उसे कोई प्रादेशिक या जाति संबंधी संदर्भ नहीं है। तीसरे, वैदिकों का भूगोल सीमित होने के कारण इसमें विभिन्न बोलीभाषाओं के निर्माण होने की संभावना नहीं है। जैसा कि हमनें देखा है, ऋग्वेद की अधिकांश रचना दक्षिण अफगानिस्थान (प्राचीन ईरान) के हेल्मंड (सरस्वति) नदी की घाटी में तथा शेष रचना (विशेष रूप से दशम मंडल) पंजाब में हुई है। इसकी भाषा में जो भी शुरुआती भाषिक संशोधन हुए, वे वहां से भारत की यात्रा के दौरान क्रमानुसार हुए। फिर भी ऋग्वेद की भाषा पर न केवल पंजाब क्षेत्र अपितु द्रविड़ भाषाओं का भी प्रभाव देखा जा सकता है। इसका अर्थ है कई प्राकृत भाषाओं से व्यवस्थित रूप से व्याकरण एवं शब्दसंग्रह उधार ले कर एक मिश्र भाषा में समय-समय से ऋग्वेद का पुनर्लेखन किया गया। इस कारण प्राकृत भाषाएं समकालीन वैदिकों की बोलीभाषाएं होने का मत स्वीकार नहीं किया जा सकता। उल्टे, चूंकि ऋग्वेद में कई प्राकृत शब्द मूल स्वरूप में या ध्वनिबदल कर के अपनाए गए हैं, वेदों को उनके मूल रूप में कंठस्थ कर जतन किया गया है यह मान्यता अयोग्य है और उसकी भाषा प्राचीन है, यह मत भी तथ्यहीन है।

कुछ विद्वान् एक अन्य तर्क देते हैं। उनके अनुसार भारत के स्थानीय लोगों को संस्कारित वैदिक भाषा बोलने में कठिनाई होती थी इसलिए उनकी प्राचीन भाषाओं का वैदिक भाषा से मिश्रण हो कर जनसामान्य की प्राकृत भाषाएं विकसित हुई। मूलतः प्राकृत प्रतिष्ठित ग्रन्थभाषा थी और राजभाषा भी थी, इस बात को यहां अनदेखा किया जाता है। इसलिए वा. वि. मिराशी और अन्य विद्वानों का यह मत की, प्राकृत ग्रामीणों की भाषाएं थी अयोग्य सिद्ध होता है।¹² यदि प्राकृत भाषाएं वैदिक भाषा के अपभ्रंश से निर्माण हुई होती, तो मूल 'शुद्ध' वैदिक भाषा ग्रामीणों की भ्रष्ट एवं कथित रूप से मिश्र भाषाओं से कैसे प्रभावित हुई? इससे यह स्पष्ट है कि, मात्र वैदिक भाषा को प्राकृत भाषाओं की जन्मदात्री सिद्ध करने हेतु ही यह तर्कहीन सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है।

इस विवेचन को देखें तो निम्न मुद्दे स्पष्ट होते हैं –

१. आज ऋग्वेद जिस प्रकार की भाषा में है, वह भाषा उसकी मूल भाषा नहीं है। कुछ अंश छोड़ मूल ऋग्वेद दक्षिण अफगानिस्थान में लिखा गया और उसकी मूल भाषा अवेस्ता ग्रन्थ की भाषा के समान या समकक्ष थी। मूल ऋग्वेद आज अस्तित्व में नहीं है।

२. वैदिकों के भारत में आगमन पश्चात यहां की भाषाओं के प्रभाव के कारण तथा यहां के धर्मांतरित वैदिकों के सुलभ आकलन हेतु मूल ऋग्वेद का पुनर्लेखन किया गया। इसमें स्थानीय भाषाओं से कई शब्द तथा व्याकरण भी उधार लिए गए। जिन शब्दों का ध्वनिबदल करना संभव नहीं था, उनके लिए स्थानीय समानार्थी शब्दों का प्रयोजन किया गया। जैसे, 'विदारष्टनिक' इस अवेस्ती नाम का भाषांतर 'अंबरीश', अवेस्ती शब्द 'वंदारमैनी' का भाषांतर 'भयमान' किया गया, इत्यादी। ये प्रतिशब्द वैदिकों की खोज नहीं, बल्कि स्थानीय बोलीभाषाओं से की गई उधारी थी।

३. ऋग्वेद की भाषा में अनगिनत प्राकृत और लगभग पांच-सौ शब्द द्रविड़ तथा मुंड भाषा से लिए गए हैं। वैदिकों ने स्थानीय संस्कृति में स्थान प्राप्त करने तथा उसे आत्मसात करने हेतु न केवल यहां के शब्दों को अपनी

भाषा में स्थान दिया, बल्कि स्थानीय प्राकृत भाषाओं के व्याकरण का भी उपयोग किया। इसी कारण स्वयं ऋग्वेद में लिखे गए अनुसार एक नई, मिश्र भाषा का उगम हुआ।

४. वैदिक लोग भारत में आने से पूर्व भारतीय प्राकृत भाषाएं सुस्थापित थीं और दैनिक उपयोग में लाई जाती थीं। भारतीय धर्म-साहित्य की भाषा भी प्राकृत ही थी। प्राकृत की एक स्वतन्त्र, स्थानीय परंपरा होने के कारण सिंधू काल में भी इसी प्राकृत का आदिम रूप प्रचलित था। सिंधू संस्कृति का प्रवाह केवल धार्मिक-सांस्कृतिक और कुछ व्यावहारिक बातों तक सीमित न हो कर भाषा के संबंध में भी था।

५. वैदिक भाषा पर प्राकृत के शब्दसंग्रह एवं व्याकरण का ऋण होने के कारण इस भाषा से प्राकृत भाषाओं का जन्म होना असंभव है। इसलिए, प्राकृत भाषाओं को मध्य इंडो-युरोपियन भाषागुट में सम्मिलित करना भाषाविज्ञान की दृष्टि से अनैतिहासिक है। वैदिक भाषा का पितृत्व अवेस्ती (प्राचीन पर्शियन या फारसी) तथा प्राकृत भाषाओं के पास है। इस अर्थ से वैदिक भाषा एक मिश्र भाषा है।

संस्कृत का स्थान

वैदिक और संस्कृत ये अलग-अलग भाषाएं हैं। आधुनिक समय में वैदिक संस्कृत ऐसी एक परिभाषा का निर्माण किया गया है। वैदिक भाषा ‘छंदसि’ नाम से जानी जाती थी। रामायण-महाभारत आदि काव्यग्रन्थों की भाषा ‘आर्ष’ कहलाती थी। पाणिनी ने जिस भाषा का व्याकरण लिखा, उसे यद्यपि हम आज संस्कृत कहते हैं, स्वयं पाणिनी ऐसा नहीं कहते। वे उसे केवल ‘भाषा’ कहते हैं। इस भाषा को संस्कृत का नाम काफी समय पश्चात प्राप्त हुआ और इसी भाषा को आगे चलकर ‘देववाणी’ नाम से संशोधित किया जाने लगा। इस भाषा को भी किसी प्रदेश, जाति या धर्म के नाम का संदर्भ नहीं है।

इस संबंध में पंडित हरगोविन्दास टी. सेठ कहते हैं, “संस्कृत भाषा की निर्मिति वैदिक भाषा से न हो कर मध्य प्रदेश की प्राकृत भाषाओं से हुई है। वैदिक भाषापर भी इसी भाग की प्राकृत भाषाओं का प्रभाव है। प्राकृत के तद्धव शब्द प्राचीन प्राकृत से क्रमानुसार संशोधित होते हुए बने हैं और संस्कृत में मूल रूप में स्वीकृत हुए हैं, न कि, संस्कृत से प्राकृत में आए हैं। इस भाग के कई देश्य शब्द संस्कृत में समाविष्ट नहीं हैं यह बात संस्कृत भाषा प्राकृत-निर्मित होने का प्रमाण है।”¹³

आर्ष संस्कृत के बनने के पश्चात पाणिनी का व्याकरण लिखा गया और फिर अभिजात संस्कृत का निर्माण किया गया।

फिर भी पाणिनी द्वारा जिस भाषा का व्याकरण लिखा गया उसपर प्राकृत का प्रभाव शब्दसंग्रह के संबंध में कायम रहा। यूँ कह सकते हैं कि, प्राकृत भाषाओं में क्रमागत रूप से ध्वनिबद्ध तथा व्याकरण में बदल करते हुए आज की संस्कृत भाषा का अस्तित्व ही इसलिए बना की एक आकलन-सुलभ तथा सटीक अर्थ युक्त सार्वत्रिक और समान ग्रन्थभाषा की आवश्यकता है। प्राकृत से ले कर संस्कृत तक की इस यात्रा की शुरुआत बौद्धों द्वारा उनके धार्मिक उद्देश्यों की प्रेरणा से की गई थी। शब्दसंग्रह तथा व्याकरण प्राकृत के किन्तु उनके मूल ध्वनियों का सुलभीकरण, ऐसी एक विकासाभिमुख भाषा इस प्रकार उभर कर आई। इस भाषा में कई ग्रन्थ भी लिखे गए। एडर्गटन इस भाषा को अज्ञानवश ‘संकरीत भाषा’ कहते हैं।¹⁴ किन्तु वास्तव में यह भाषा तथा शिलालेखों तथा मुद्राओं की भाषा (ईसापूर्व तीसरी शताब्दी से ईसवी की दूसरी शताब्दी) प्राकृत भाषाओं का विकासाभिमुख चित्र दर्शाती है। इस दृष्टि से संस्कृत यह प्राकृत की ही एक भाषिक शाखा कही जा सकती है। पाली भाषा को संस्कृत तथा प्राकृत के दरम्यान की मध्य अवस्था के रूप में बौद्धों ने विकसित किया ऐसा नहीं कहा जा सकता। पाली भाषा संस्कृत के निकट नहीं जाती बल्कि कई बार संस्कृत पाली का अनुकरण करती दिखाई देती है। साथ ही, संस्कृत के समान पाली भाषा को भी किसी प्रदेशनाम या जाति के नाम का संदर्भ नहीं

है क्योंकि इन दोनों ही भाषाओं को कई प्राकृत भाषाओं के आधार से कृत्रिम रूप से बनाया गया है। ऐसा भी कहा जा सकता है कि, संस्कृत भाषा पाली ही का संशोधित संस्करण है।

इन दोनों भाषाओं की निर्मिती ग्रान्थिक कारण से होने के कारण वे कभी भी बोली भाषाएं नहीं थी। संस्कृत भाषा की कृत्रिम निर्मिती के कारण वह सीमित हो गई और ग्रान्थिक उपयुक्तता समाप्त होने पर उसका क्षय हुआ देखा जाता है। किन्तु इस भाषा का भी पहला लिखित प्रमाण सन् १६० में उकेरे गए राजा रुद्रदमन के शिलालेख में। पाली तथा अन्य प्राकृत भाषाओं के ऐसे लिखित प्रमाण इससे कम से कम पांच-सौ वर्ष प्राचीन हैं।

गुप्त काल के पश्चात पहले द्वैभाषक (प्राकृत लेख और उसका संस्कृत अनुवाद) लेख और चौथी शताब्दी के पश्चात संस्कृत शिलालेख और ताम्रपट भारी संख्या में पाए गए। यह तर्क की, दूसरी शताब्दी से पहले लोगों को संस्कृत भाषा का आकलन नहीं होता था किन्तु इसके पश्चात अचानक वह समझ में आने लगी, समझ से बाहर है। सत्य यह है कि, ईसवी की दूसरी शताब्दी तक संस्कृत भाषा अभी निर्माणाधीन थी। जिसे आर्ष भाषा कहते हैं वह ईसापूर्वी पहली शताब्दी से ईसवी की दूसरी शताब्दी इस समयावधी में विकसित हुई और दूसरी शताब्दी से वह प्रचलित हुई। पाणिनी का काल किसी भी सूरत में ईसवी की तीसरी शताब्दी से पीछे नहीं जा सकता, इसलिए आजतक निश्चित की गई समयरेखा तथा इंडो-युरोपियन भाषाओं का वर्गीकरण इन में संशोधन करने का आवश्यकता उत्पन्न हुई है। इस संबंध में हम यहां कुछ प्रमाणों का सत्यापन करेंगे। प्रस्तुत लेखक की 'भाषेचे मूळ' इस पुस्तक में इस संबंध में सविस्तार चर्चा की गई है।

रिचर्ड पिशेल कई उदाहरणों के साथ यह स्पष्ट करते हैं कि, "प्राकृत भाषाओं को किसी भी एकही उगम तक ले जाया नहीं जा सकता। भारतीय विद्वान तथा हॉफ्फर, लास्सेन, जैकोबी आदि की मान्यता के विपरीत कम से कम यह निश्चित है कि, वे संस्कृत भाषा से जन्मी नहीं हैं। वैदिक भाषा का शब्द संग्रह और व्याकरण प्राकृत स्वभाव से मिलते हैं, अभिजात संस्कृत के स्वभाव के साथ नहीं। इसलिए यह नहीं स्वीकारा जा सकता कि, प्राकृत भाषाएं संस्कृत से विकसित हुई हैं।" इसे हमें ध्यान में रखना होगा।

पाणिनी का सही समय निश्चित करने का भरपूर प्रयास पश्चिमी विद्वानों ने किया है। इन में फ्रेडरिक मैक्समुल्लर, प्रो. वेबर, थिओडोर गोल्डस्टकर और जेम्स अल्विस प्रमुख हैं। इन विद्वानों के पांडित्य पर संदेह नहीं किया जा सकता किन्तु दुर्भाग्य से पाणिनी के समय के संबंध में इन में कोई एकमत नहीं हो सका। प्रो. वेबर पाणिनी का समय ईसवी १४० मानते हैं तो गोल्डस्टकर के अनुसार यह समय निश्चित रूप से बुद्धपूर्व यानी ईसापूर्व आठवीं शताब्दी के आसपास पड़ता है। मैक्समुल्लर मानते हैं कि, पाणिनी का समय ईसापूर्व ४५० था।

इस मतभिन्नता के कई कारण हैं, जिनमें प्रमुख है संस्कृत साहित्य में समय के उल्लेख लगभग नहीं के बराबर हैं और जो हैं, वे अचूक नहीं हैं। इस कारण किसी ग्रन्थ में उपलब्ध प्रमाण तथा लेखक के पूर्व समय के आचार्यों के नामों के उल्लेख इनके आधार से विभिन्न समयावधियों का अनुमान मात्र किया जा सकता है। दूसरे, कई प्राचीन लेखकों के नाम एक ही हैं, जैसे हमें कात्यायन नामक कम से कम तीन लेखक ज्ञात हैं। कुछ लोग 'वार्तिका' ग्रन्थ के लेखक कात्यायन और 'प्राकृत प्रकाश' का लेखक वररुची एक ही हैं ऐसा मानते हैं और कुछ लोग नहीं मानते। 'शुल्व सूत्र', 'वार्तिका' तथा 'श्रौत सूत्र' इन तीन ग्रन्थों के लेखक कात्यायन एक ही थे या तीन अलग-अलग समय में हुए तीन स्वतन्त्र व्यक्ति इस विषय में विवाद है और प्रत्येक अनुसंधानकर्ता ने अपना मत सिद्ध करने के प्रयास किए हैं। यही बात पतंजलि इस लेखक के संबंध में भी है क्योंकि 'महाभाष्य' रचयिता पतंजलि, 'योग दर्शन' के रचयिता पतंजलि तथा आयुर्वेदाचार्य पतंजलि एक ही हैं या भिन्न यह विवादास्पद है। इतना ही नहीं, कई लेखकों द्वारा अपनी पुस्तकें इतिहास के प्रसिद्ध व्यक्तियों के नाम पर प्रकाशित किए जाने के कारण ऐसे विवादों का उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

हमारी चर्चा के लिए हम पाणिनीपूर्व माने जानेवाले ग्रन्थ तथा पाणिनीय व्याकरण पर आधारित प्राचीन ग्रन्थों का विचार करेंगे। पाणिनी का समय इन विद्वानों के अनुसार चाहे ईसापूर्व ८००, ४५०, २५० या इसके बाद १४० हो, उस के पश्चात के साहित्य पर उसके व्याकरण का प्रभाव होगा यह स्पष्ट है। पाणिनीय व्याकरण सिद्ध होने से पूर्व का साहित्य वैदिक तथा ब्राह्मण काल का साहित्य इस संज्ञा से जाना जाता है।

महाकाव्य समय को आर्ष काल कहने की परंपरा है। रामायण और महाभारत इसी काल की उपज हैं और उनपर पाणिनीय व्याकरण का प्रभाव नहीं है। उल्टे इन दोनों महाकाव्यों पर प्राकृत भाषा एवं व्याकरण का भारी प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। पाणिनीय व्याकरणाधारित साहित्य निर्मिति का समयावधि अभिजात संस्कृत का समय माना जाता है।

अभिजात संस्कृत साहित्य के निर्माण की शुरुआत गुप्त काल में हुई यह मत सर्वमान्य है। यह काल ईसवी की तीसरी से छठी शताब्दी है। इसी काल खंड में पाणिनीय संस्कृत पर आधारीत नाटक, वैज्ञानिक, गणिती, तकनीकी, आर्यवेद आदि विभिन्न विषयों को समर्पित अनगिनत ग्रन्थों का निर्माण होने लगा। भास, कालिदास, आर्यभट्ट, वराहमिहिर, विष्णु शर्मा, वात्स्यायन आदि दिग्गज लेखकों द्वारा पाणिनीय संस्कृत में विविधांगी रचनाएं की गई या मूल प्राकृत कलाकृतियों को आदर्श संस्कृत में अनुवादित किया गया। अभिजात संस्कृत का आद्य नाटककार भास ईसवी की तीसरी शताब्दी में हुआ। इसी समय ब्रह्म सूत्र, कल्प सूत्र इत्यादि सूत्र साहित्य का निर्माण हुआ। व्याकरण की निर्मिति होने के पश्चात शताब्दीभर में उस पर आधारित साहित्य निर्माण होने लगा। यदि भास का समय वास्तव में तीसरी शताब्दी था, तो पाणिनी ने दूसरी से तीसरी शताब्दी के मध्य में किसी समय 'अष्टाध्यायी' व्याकरण लिखा ऐसा मानना होगा। संस्कृत में पहला शिलालेख सन १६० में लिखा गया, किन्तु हमने देखा की, वह पाणिनीय व्याकरण पर आधारित नहीं था, इसलिए, पाणिनी निश्चय ही इसके पश्चात तथा तीसरी शताब्दी से पहले हुआ होगा यह मत तर्कसंगत सिद्ध होता है और यही बात कुल समयरेखा से सुसंगत भी है। इससे यह स्पष्ट होता है कि, पूर्व विद्वानों द्वारा मान्य की गई समयरेखा पूर्ण रूप से अयोग्य है।

संस्कृत भाषा का विकास विशेष रूप से ग्रान्थिक तथा धार्मिक कारणों के लिए ही किए जाने के कारण यह भाषा बोली भाषा कभी भी नहीं रही। इस भाषा को व्यवहार में लाया गया तो वह केवल ग्रन्थों में बंद नहीं रहेगी और जीवित रहेगी इस विचार से यद्यपि ब्राह्मण पुरुष जहां तक संभव आपस में संस्कृत में वार्तालाप करते रहे, स्त्रियों (ब्राह्मण स्त्रियां) तथा अन्य लोगों के साथ संभाषण के लिए प्राकृत भाषा ही का प्रयोग करते थे। इसके अतिरिक्त उनके पास अन्य कोई विकल्प उपलब्ध नहीं था। अपना धार्मिक वर्चस्व अधोरेखित करने के लिए यज्ञादि प्रसंगों में एकदूसरे के साथ संवाद करने के लिए अन्य लोगों को प्रभावित करने हेतु उन्हें ऐसी ही किसी भाषा की आवश्यकता थी। अपनी स्वतन्त्र पहचान बनाए रखने के लिए उन्हें यज्ञसमय के ऋचा उच्चारण के लिए वैदिक भाषा का और आपसी संभाषण के लिए संस्कृत भाषा का प्रयोग करना आवश्यक था। यह बात और है कि, वैदिक भाषा समझ में नहीं आती थी, उसके शब्दों का उच्चारण एवं शुद्धता समय के साथ बदलते रहे और उसमें नए शब्दों को समाविष्ट किया जाता रहा तथा संस्कृत में प्राकृत शब्दों को ध्वनिबदल तथा व्याकरण बदल करते हुए उपयोग में लाया जाता रहा।

प्राकृत भाषाओं में प्रादेशिक उच्चारण-भिन्नता थी किन्तु संस्कृत किसी एक प्रदेश से जुड़ी ना होने के कारण उस के उच्चारण में प्रायः कोई भेद नहीं होता था। संस्कृत को गान्धारी, शौरसेनी आदि उत्तरी भारत की प्राकृत भाषाओं के मिश्रण से बनाए जाने के कारण प्राकृत भाषक जनसामान्य को यद्यपि वे इसे बोल नहीं पाते थे, उन्हें इसे समझने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती थी ऐसा एक तर्क दिया जाता है। किन्तु वास्तव में वैदिक ब्राह्मण उनकी अपनी स्त्रियों तथा अवैदिक जनसमुह से संभाषण करते समय प्राकृत ही का प्रयोग करते थे इसका प्रमाण उपलब्ध होने के कारण संभवतः यह तर्क सही नहीं है। चूंकि स्त्रियों को ही संस्कृत निषिद्ध थी, उनके बच्चों की मातृभाषा संस्कृत होने की संभावना नहीं थी। वास्तव में हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि, भारत में आए और धर्मांतरित हुए सभी वैदिकों की मातृभाषाएं स्थानीय प्राकृत भाषाएं ही थी। हमें यहां इस बात को भी समझना होगा कि, मातृभाषा द्वितीय भाषा को प्रभावित करती है और यही कारण है कि, संस्कृत में प्रदेशनिहाय शब्दों के उच्चारण और संग्रह में अंतर दिखाई देता है। संस्कृत भाषा नित्य द्वितीय भाषा ही रही, मातृभाषा या बोली भाषा नहीं।

जहां वैदिक स्त्रियों के लिए भी संस्कृत निषिद्ध थी, वहां वैदिकेतर स्त्री-पुरुषों की मातृभाषा संस्कृत होने की बात दूर, उन्हें इस भाषा का सामान्य ज्ञान भी होने की संभावना नहीं थी। इस से हम देख सकते हैं कि, जो

भाषा लोग बोल ही नहीं पाते थे, उसके उनके द्वारा अपभ्रंशित होने और उस अपभ्रंश द्वारा प्राकृत भाषाओं के निर्माण होने का दावा कितना हास्यास्पद है। यह भी सत्य है कि, यद्यपि शुरू में कुछ समय तक संस्कृत को सीमित रखी गई थी, उसे दीर्घ काल तक वैसा रखना वैदिकों के लिए संभव न हो पाया। प्राकृत-संस्कृत द्वैभाषिक शिलालेखों की परंपरा गुस काल में हुई किन्तु इसके पश्चात प्रचुर मात्रा में लेख संस्कृत में लिखे गए। इससे यह सिद्ध होता है कि, संस्कृत मात्र वैदिकों का धन नहीं रही और अवैदिक लोग भी इस भाषा में साहित्य और धर्म ग्रन्थ लिखने लगे। उत्तर काल में हर संस्कृत साहित्यकृती को वैदिकों का मानने की जो प्रवृत्ति पनपने लगी, उससे संस्कृत साहित्य के विकास की हानि हुई। कालिदास, शूद्रकादि प्रगल्भ साहित्यकार संस्कृत में दोबारा नहीं हुए उसका कारण यही कहा जा सकता है।

भाषा की अर्थस्पष्टता कायम रखने हेतु संस्कृत एवं वैदिक (छंदोसि) भाषा के व्याकरण बारंबार लिखे गए किन्तु यह उद्देश सफल हुआ दिखाई नहीं देता। समय-समय पर वैदिक भाषा अर्थ की दृष्टि से अनाकलनीय बनती गई। सायनाचार्य को इन व्याकरणों की उपलब्धता होने पर भी वेदों का अर्थ समझने में कठिन हुआ था इस से यह स्पष्ट हो जाता है। माधव देशपांडे के अनुसार, वैदिक रचना का आज का संहिता स्वरूप उन रचनाओं का मूल रूप नहीं बल्कि प्रदीर्घ मौखिक परंपरा के रूप में उनका जतन किए जाने पर उनके संकलक-संपादकों द्वारा दिया गया रूप है। वास्तव में वैयाकरणों ने अपनी समकालीन संस्कृत भाषा के व्याकरण के नियम वैदिक भाषा पर लादते हुए कई बार वैदिक भाषा के कुछ प्रयोगों की उपपत्ति लौकिक प्रयोगों के प्रभाव में दी है। वैदिक प्रयोगों की ओर देखने की स्वतन्त्र भाषिक दृष्टि पाणिनी के पास थी ऐसा दिखाई नहीं देता।¹⁵

सभी पश्चिमी विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया है कि, पाणिनी के आधार से वेदों का अर्थ समझने में कठिनाई होती है। देशपांडे द्वारा कथित कारण भी इसके पीछे हैं। प्रथमतः पाणिनी को उपलब्ध वेदों की भाषा भिन्न थी और दूसरे, हमें यह ज्ञात नहीं है कि, तत्कालीन वैदिक भाषा में लिखे गए कौन-से ग्रन्थ उसे उपलब्ध थे। एक और विचार करें तो ये विभिन्न व्याकरण यानी तत्कालीन वैयाकरणों का बौद्धिक मनोरंजन का साधन रहा होगा। पाणिनी, कात्यायन एवं पतंजलि द्वारा लिखित व्याकरण से यह संभावना सामने आती है। वास्तव में भाषा पहले आती है न कि, धातु, संधि, ध्वनि आदि व्याकरणात्मक विचार से वह बनती है। उसके शब्द पहले बनते हैं और लोगों के व्यवहार उन शब्दों को अर्थ प्रदान करते हैं। प्रायः पहले भाषा और फिर व्याकरण ऐसा क्रम होता है। यदि यास्काचार्य को प्रत्येक शब्द का धातु खोजना आवश्यक लगता था तो इसका अर्थ इतनाही है कि, या तो भाषानिर्मिती को ले कर उनका ज्ञान अत्यल्प था या फिर वे वास्तव में भाषा को ईश्वर की निर्मिती मानते थे। व्याकरण से हम यद्यपि यह समझते हैं कि, व्याकरण द्वारा प्रमाणित भाषा ही शिष्ट भाषा है ऐसा तत्कालीन संस्कृतनिष्ठ लोगों की मान्यता थी, व्याकरणों में उनके काल की भाषा का वास्तव निर्देशित नहीं होता। उसकी आवश्यकता भी नहीं हुई थी। किन्तु इस कारण आज वैदिक भाषा एवं संस्कृत वैयाकरणों के काल निश्चित करने में संभ्रम उत्पन्न हुआ है।

हम भाषा विकास का क्रम कुछ इस प्रकार लगा सकते हैं –

१. पुरा-प्राकृत भाषाएं
२. कुछ लोगों तक सीमित प्राचीन फारसी भाषा और प्राकृत मिश्रित वैदिक भाषा
३. प्राकृत भाषाओं की ही शाखाओं के रूप में आर्ष एवं पाली मध्ययुगीन प्राकृत भाषाएं
४. पाणिनीय अभिजात संस्कृत एवं समकालीन (मध्ययुगीन) प्राकृत भाषाएं
५. अपभ्रंशित (प्रागतिक) रूप से समय के सापेक्ष बदलती गई आज की प्राकृत भाषाएं

यह अनुक्रम अधिक वैज्ञानिक और उपलब्ध प्रमाणों के आधार से सिद्ध होनेवाला है। संस्कृत भाषा वैदिक भाषा का प्रगत रूप कर्त्ता नहीं है क्योंकि वैदिक भाषा में पाए जानेवाले अनेक रूप संस्कृत भाषा में नहीं

हैं। संस्कृत का शब्दसंग्रह अधिक प्राकृतनिष्ठ है। किन्तु पाणिनी के कारण इसका व्याकरण समग्र रूप से बदल चुका है। शब्दों के रूप वैदिक से संस्कृत भाषा तक कैसे बदल गए हैं, आईए इसके कुछ उदाहरण देखें –

देवा-देवौ, विश्वा-विश्वानि, देवेभिः-देवैः, अस्मे- अस्मासु इत्यादि धातुरूप प्रक्रिया में बहुत अंतर है और वैदिक भाषा के कई रूपों का संस्कृत में पूर्ण अभाव है। वैदिक भाषा की विविधता संस्कृत में नहीं है और साथ ही उसके कई शब्दों के अर्थ भी संस्कृत में बदले गए हैं, जैसे 'असुर' शब्द का वैदिक अर्थ प्राणवान्, ईश्वर था किन्तु संस्कृत में वह देवों का शत्रु ऐसा हुआ है। 'कारु' का अर्थ कवि था, जो संस्कृत में शिल्पी बन गया। वैदिक भाषा में संयुक्त शब्द विरला हैं तो संस्कृत में लम्बे-चौड़े संयुक्त शब्द प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं। ध्वनिबदल किए गए प्राकृत शब्द भी संस्कृत में प्रचुर हैं। ऋग्वेद और अवेस्ती भाषा इन में जो ध्वन्यात्मक अंतर है, वही प्राकृत और संस्कृत भाषाओं में है किन्तु अनगिनत प्राकृत शब्द ऐसे हैं जिनके लिए संस्कृत में ध्वन्यात्मक बदल किए गए प्रतिशब्द भी उपलब्ध नहीं हैं। व्याकरणकारों ने ऐसे शब्दों को 'देश्य' शब्द कहने की प्रथा शुरू की। अर्थात्, संस्कृत में समाविष्ट मूल प्राकृत शब्द 'देश्य' शब्द कहलाने लगे।

अब हम अवेस्ती भाषा तथा वैदिक भाषा इनका पारस्परिक आंतरिक संबंध देखेंगे।

अष्यम वोहू वहिश्त्यम अस्ती।
उश्ता अस्ती उश्ता अम्हाई।
ह्यत अषाइ वहिश्ताइ अष्यम॥

इस अवेस्ती मंत्र का वैदिक भाषा में रूपांतर कुछ इस तरह है –

ऋतं वसु वसिष्ठम अस्ति।
ओषितृ अस्ति ओषितु अस्मै।
यत ऋताय वसिष्ठाय ऋतम॥

इसमें दो मुद्दे सिद्ध होते हैं। एक, अवेस्ती भाषा अधिक प्राचीन है और उसी की भगिनी भाषा वैदिक, ध्वनि की दृष्टि से अधिक परिणत एवं उत्तरकालीन है। दूसरे, ध्वनिबदल करने पर दोनों भाषाएं एकदूसरे में रूपांतरित की जा सकती हैं।

अब हम प्राकृत और संस्कृत भाषाओं का आंतरिक संबंध देखेंगे।

रमिऊण पञ्चं पि गओ जाहे उअऊहिं पडिणिउत्तो
अहअं पहुथपइआ व्व तक्खणं सो पवासि व्व॥

इन प्राकृत पंक्तियों का संस्कृत रूप है –

रन्त्वा पदनपि गतो यदोपगूहितुं प्रतिनिवृतः
अहं प्रोषितपतिकेव तत्क्षणं स प्रवासीव॥
(संदर्भ- गाथासप्तशति, हाल सातवाहन, ९८ वीं गाथा)

इससे हम देख सकते हैं कि, अवेस्ती भाषा और ऋग्वेद की भाषा एकदूसरे से जितना निकट संबंध रखती है, उतना ही निकट संबंध प्राकृत और संस्कृत भाषाओं में है। फिर भी, आज जो प्रचलित हैं, वे प्राकृत रूप ही हैं, जैसे, रमिउण का रूप रममाण, तक्खन का रूप तत्क्षण, पवासी का रूप प्रवासी और पड़आ का रूप पैया-पाय आदि आज भी प्रचलित हैं। यहां यह भी ध्यान रखना होगा कि, पवासी शब्द का संस्कृत रूप प्रवासी का देश्य शब्द के रूप में वर्गीकरण किया गया है। प्राकृत भाषा संरचना की आदिमता सहज देखी जा सकती है। संस्कृत में किए गए ध्वनिबदल अधिक प्रागतिक हैं। ये भी कारण है कि, संस्कृत भाषा प्राकृत भाषाओं से अर्वाचीन सिद्ध होती है।

इसका अर्थ है वैदिक और संस्कृत भाषा तथा प्राकृत भाषाएं इनके बीच के पारस्परिक संबंध कुछ ऐसा है कि, प्राकृत भाषा वैदिक भाषा की मासी और संस्कृत की माता कही जा सकती है। प्राकृत शब्दों के संस्कृत में ध्वनिबदल धीर-धीरे ही हुए हैं। 'गाथा सप्तशति' ग्रन्थ ईसापूर्व पहली शताब्दी के पश्चात रचा गया। इससे भी पीछे जाएं, तो ईसापूर्व १५० से प्रचलित मुद्राएं उनपर उकेरे प्राकृत शब्दों के ध्वनि की दृष्टि से प्रागतिक होते हुए देखे जा सकते हैं। इन मुद्राओं पर उकेरे रणौ, राज्ञे, राजतिराजसा, राजादिराजसा आदि राजा के संबोधन आगे चलकर संस्कृत में 'राजाधिराज' बने यह हम सहज ही देख पाते हैं।

सन १६० के पूर्व का एक भी संस्कृत या वैदिक भाषा का लिखित नमूना हमें प्राप्त नहीं हुआ है। उनके जो भी प्रमाण उपलब्ध हैं, वे केवल विभिन्न प्राकृत भाषाओं तथा द्रविड़ भाषा के हैं। सप्तांशोक के सभी शिलालेख वे जिन प्रदेशों में उकेरे गए, वहां की प्राकृत भाषा में हैं और भारत के बाहर के उसके शिलालेख वहां की परकीय (जैसे आर्मार्इक) भाषा में हैं।

विद्वानों की मान्यता है कि, वैदिक लोग भारत में ईसापूर्व १२०० के आसपास आए। वैदिक भाषा और इसके पश्चात निर्माण की गई संस्कृत भाषा ये भाषाएं शिष्ट भाषाएं थी ऐसा भी दावा किया जाता है। आर्यों के आगमनपश्चात कुछ शताब्दीयों में ही आर्य भाषा में रामायण तथा महाभारत ये काव्य लिखे गए ऐसा माना जाता है। मूल प्राकृत काव्यों पर आधारित ये काव्य जनसामान्य में प्रिय थे और आर्य भाषा प्राकृत भाषकों के लिए समझने में सुलभ थी ऐसा दावा विंटरनिटज्ज जैसे विद्वानों ने किया है। वे कहते हैं, "आज उपलब्ध रामायण ऋषि वाल्मिकी ने ईसापूर्व ३०० में पुरातन लोकगीतों के आधार से रचा था।"¹⁶ यदि यह सत्य है तो कई प्रश्न उत्पन्न होते हैं, जैसे इस भाषा का एक भी तत्कालीन प्रमाण क्यों नहीं मिलता? यदि संस्कृत भाषा ईसापूर्व तीसरी शताब्दी में इतनी लोकप्रिय थी की उसमें रामायण तथा महाभारत जैसे मूल लोक-काव्य अनुवादित किए गए, तो इस भाषा के राजव्यवहार तथा समाजव्यवहार में प्रयोग के कोई भी शिलालेखीय या मुद्राओं के रूप में प्रमाण क्यों मिलते नहीं हैं? उस समय क्यों किसी भी राजा ने वैदिक या संस्कृत भाषा को राजभाषा का दर्जा प्रदान किया?

उस समय वैदिक धर्म ने संपूर्ण सामाजिक जीवन को प्रभावित किया था, ऐसा भी दावा किया जाता है। इतना ही नहीं, इस समयावधि को वैदिक युग भी कहा जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन वर्णों को मिलाकर वैदिक धर्म था और उन्हें वेदाध्ययन का अधिकार भी था, जिसके लिए स्वाभाविक रूप से उन्हें वैदिक भाषा सीखनी पड़ती थी और महावीर-बुद्धसहित तत्कालीन राजा क्षत्रिय ही थे, ऐसे भी कई दावे किए जाते हैं। साथ ही, अधिकांश पौराणिक राजा क्षत्रिय थे, उन्होंने गुरु के घर जा कर वेदाध्ययन किया ऐसा भी गर्व से कहा जाता है तथापि वैदिक या संस्कृत भाषा का एक भी लिखित प्रमाण उपलब्ध नहीं है और किसी प्राकृत भाषा साहित्य में इस भाषा का नामोल्लेख तक किया नहीं गया है। इससे यही स्पष्ट होता है कि, आज जिसे हम वैदिक या संस्कृत भाषा कहते हैं, उसका ईसापूर्व समय में अस्तित्व नहीं था।

सम्राट अशोक यदि ब्राह्मणों का सम्मान करता है, तो वह संस्कृत का विरोध क्यों करेगा?

एक दुर्बल समर्थन ऐसा दिया जाता है कि, जनसामान्य को संस्कृत या वैदिक भाषा समझ में ना आने का कारण शिलालेख, मुद्राएं तथा युप और बौद्ध-जैन साहित्य में प्राकृत भाषाओं का उपयोग किया गया। संस्कृत में कोई शिलालेख न होने का स्पष्टीकरण अशोक बौद्ध होने के कारण ही उसने जानबूझकर बृद्ध के समान प्राकृत भाषा का प्रयोग किया तथा संस्कृत भाषा को टाला, इस प्रकार दिया जाता है। किन्तु अशोक ने अपने शिलालेखों में ब्राह्मणों का सम्मान किया है ना कि अनादर, तो फिर वह ब्राह्मणों की भाषा का द्वेष करेगा यह संभव नहीं है। धौली शिलालेख में अशोक कहता है, “देवों का प्रिय राजा अपने शासन के बारहवें वर्ष कह रहा है ... माता-पिता की सेवा, मित्र-परिजनों के प्रति उत्तम व्यवहार, ब्राह्मण और श्रमणों का आदर एवं दान धर्म, हिंसा से परावृत्त होना और धनसंपत्तिका संचय एवं अपव्यय टालना, यही आदर्श जीवन-व्यवहार है...”

अशोक ब्राह्मण-द्वेषी नहीं था, तो उनकी भाषा का द्वेषी कैसे होगा? वैसे भी, उसने अपने शिलालेखों के लिए केवल मागधी या पाली भाषाओं का ही प्रयोग नहीं किया, बल्कि हर प्रदेश में स्थानी प्राकृत भाषा का और विदेशों में विदेशी अर्माईक भाषा का प्रयोग किया। किन्तु जो भाषा अस्तित्व में ही नहीं उसका प्रयोग वह कैसे कर पाता? फिर भी यदि ऊपर का प्रतिवाद मान भी लिया जाए तो प्रश्न यह उठता है कि, दूसरी शताब्दी के पश्चात ऐसा क्या हुआ जिसके कारण उत्तर से ले कर दक्षिण के लोगों को यकायक संस्कृत भाषा का ज्ञान हो गया और सभी दानपत्र एवं शिलालेख उसी संस्कृत में उकेरे जाने लगे और वे भी इतने प्रभाव के साथ की, धीरे-धीरे प्राकृत भाषा युक्त शिलालेख अप्राप्य होने लगे?

दूसरी शताब्दी के पूर्व संस्कृत भाषा थी ही नहीं, यह स्पष्ट है। प्रमाणों के अभाव के कारण हमें यह ज्ञात नहीं है कि, बृद्ध-महावीर के समय में वैदिक भाषा का सटीक स्वरूप क्या था। वैदिक भाषा जिस समय की प्राकृत भाषाओं से प्रभावित है, वह ईसवी की तीसरी शताब्दी के पश्चात का है और इसीलिए ईसापूर्व तीसरी शताब्दी से ईसवी की पहली शताब्दी तक की समयावधि में वैदिक भाषा निर्माण की गई और वही पाणिनी के लिए उपलब्ध थी। यह बात स्पष्ट है। पाणिनी के पश्चात यह भाषा अपने मूल रूप में नहीं रही। पुराणों के साथ ही रामायण एवं महाभारतादि काव्यों का अंतिम संस्करण ईसवी की तीसरी शताब्दी के पश्चात ही हुआ है, यह बात सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। यह स्पष्ट है कि, मूलतः ये काव्य और पुराण प्राकृत में लिखे गए थे और उनकी आर्ष भाषा पर प्राकृत प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

महाकाव्यों तथा पुराणों की मूल भाषा प्राकृत थी

विंटरनिट्ज़ ने भी इस बात की पुष्टि की है। वे लिखते हैं, “बुल्हेर के अनुसार शिलालेखीय प्रमाणों से ऐसा माना जा सकता है कि, व्याकरणकारों ने उत्तरी भारत की प्राकृत भाषाओं में संशोधन कर संस्कृत भाषा निर्माण की और फिर वह धीरे-धीरे संपूर्ण भारत में फैली... महाकाव्यों तथा पुराणों की आर्ष भाषा जनभाषाओं पर अल्प संस्कार करने से बनी थी। वास्तव में प्राचीन संस्कृत भाषा में महाकाव्य लिखे ही नहीं गए। यही कारण है कि, कई विद्वानों ने रामायण, महाभारत एवं पुराण मूलतः प्राकृत ही में लिखे गए और इसके पश्चात उन्हें संस्कृत में अनुवादित किया गया इस बात को मान लिया है।”¹⁷

बूल्नर ने भी लिखा है, “प्राकृत भाषाओं का उगम संस्कृत से नहीं हुआ है। पार्सिटर के अनुसार पुराण और महाकाव्यों का मूल भी प्राकृत भाषा ही में है। साहित्यिक इतिहास में यह अभिलेखित है कि, ‘बृहत्कथा’ पैशाची इस प्राकृत भाषा में लिखी गई थी। हर्टल के कथनानुसार ‘पंचतन्त्र’ भी मूलतः प्राकृत ही में लिखा गया था और इसके पश्चात इस साहित्य का संस्कृत में अनुवाद किया गया। जयदेव का ‘गीत गोविन्द’ भी मूलतः अपभ्रंशित प्राकृत में था। महाभारत तथा पुराणों में जिनका उपयोग किया गया वे छंद तथा व्याकरण भी इन

साहित्यकृतियों के प्राकृत से अनुवादित किए जाने की ओर निर्देश करते हैं। संस्कृत में अवतीर्ण होने से पूर्व ही महाकाव्यादि साहित्य लोकप्रिय होगा। कोई काव्य जितना पुराना उतना वह पुरा-प्राकृत में होने की संभावना अधिक है। पुरा-प्राकृत का संस्कृतकरण कर पुराण एवं महाकाव्य लिखे जाने के कारण ‘काव्य-संस्कृत’ यह एक नई भाषा निर्माण हुई।”¹⁸

मूल प्राकृत ग्रन्थों के ये सभी अनुवाद संस्कृत के विकसित होने के पश्चात किए गए। मूल प्राकृत काव्य ही प्राचीन थे, जो कुछ समय पश्चात आर्ष भाषा में और पाणिनी के व्याकरण प्रसिद्ध होने के पश्चात अभिजात संस्कृत में अनुवादित हुए यह वास्तव है। ऊपरोल्लेखित विद्वानों के साथ ही हॉटेल जैसे विद्वानों ने भी इस जनप्रिय साहित्य का मूल प्राकृत भाषा में है यह स्पष्ट किया, किन्तु फिर भी संस्कृत पहले और प्राकृत उसके पश्चात ऐसा अवैज्ञानिक विवाद प्रचलित हुआ। कई विद्वानों ने ये काव्य मूलतः संस्कृत ही में होने की रट लगाई और यह धारणा अब तक कायम है। इसके समर्थन के लिए समयरेखा को भी कृत्रिम रूप से बदला गया किन्तु वास्तव यह है कि, जो भाषा थी ही नहीं उसमें कोई रचना कैसे हो सकती है। अपितु इस मूलभूत प्रश्न को सभी ने अनदेखा कर दिया। वेद तथा सभी पुराण, नाटक और महाकाव्यादि पर प्राकृत का ऋण है न कि, वैदिक या संस्कृत भाषा का, इस सत्य की ओर ध्यान देना आवश्यक है।

प्राकृत भाषाओं में मात्र ध्वनिबदल करने से सहज ही आर्ष भाषा प्रयोग सिद्ध हो सकता है। आर्ष भाषा में संस्कृत की भाँति व्याकरण की अवरुद्धता नहीं है। संस्कृत के इस रूप में प्राकृत भाषाओं का खुलापन जतन किया जाने के कारण जिन्हें प्राकृत भाषा ज्ञात थी उन्हें इस आर्ष भाषा को समझने में कोई कठिनाई नहीं होती थी। प्राकृत भाषा पर संस्कार करते समय आर्ष भाषा का उदय हुआ दिखाई देता है। इसमें कोई संदेह नहीं की इस रूपांतर के कर्ताओं द्वारा धार्मिक वर्चस्वता के उद्देश्य से मूल काव्य में बड़ी ही अस्वाभाविक अनुवृद्धि की जाने के तथा आज मूल प्राकृत काव्य उपलब्ध न होने के कारण हमारा सांस्कृतिक इतिहास पंकिल हो गया है। फिर भी, मूल काव्य में की गई वृद्धि और प्रक्षिप्ता सहज आकलन होने जैसी है इस कारण भविष्य में किसी समय ये काव्य तथा पुराण मूल, शुद्ध रूप में पुनःप्रकाशित होने की आशा की जा सकती है।

गुणाळ्य के ‘बृहत्कथा’ के रूप में एक और वास्तव सामने आता है और वह यह है कि, प्राकृत ग्रन्थों का संस्कृत में अनुवाद होने पर मूल ग्रन्थों को नष्ट किया गया। ‘बृहत्कथा’ मूलतः पैशाची इस भाषा में लिखी गई थी और इसके दसवीं शताब्दी के पश्चात किए गए तीन संस्कृत अनुवाद आज उपलब्ध हैं। इसका अर्थ है, अनुवाद एवं संक्षिप्त रूपांतर करने के लिए कम से कम दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी तक मूल प्राकृत संस्करण उपलब्ध था किन्तु संस्कृत रूपांतर होने के पश्चात मूल पांडुलिपि नष्ट हुई पाई जाती है। इससे समस्या यह है कि, मूल संस्करण में क्या लिखा था यह जानने का कोई मार्ग नहीं है। संभवतः उसमें प्रक्षेप किया गया है क्योंकि मूल ग्रन्थ में जिस मिथक का होना असंभव प्रतीत होता है वह संस्कृत संस्करण में पाई जाती है। इस कथा के अनुसार सातवाहन राजा को संस्कृत का ज्ञान नहीं था इसलिए उसकी संस्कृत जाननेवाली रानी ने उसका उपहास किया और इसी घटना से प्रेरित हो कर राजा को संस्कृत की शिक्षा देने हेतु संस्कृत का कातन्त्र व्याकरण लिखा गया। अनुवाद/रूपांतर सञ्चार्य से करने की प्रवृत्ति हमारे देश में आज भी नहीं है, तो उस समय भी नहीं होगी। मराठी में अनुवादित मनु स्मृति, क्रग्वेद आदि ग्रन्थों में मूल ग्रन्थों में जो नहीं लिखा गया उसे बलपूर्वक समाविष्ट करने के कई उदाहरण उपलब्ध हैं।

अब तक के विवेचन में निम्न मुद्दे स्पष्ट होते हैं –

- सिंधू संस्कृति की भाषा प्राकृत भाषाओं का ही पुरातन रूप यानी पुरा-प्राकृत भाषा थी। ईसापूर्व तीसरी शताब्दी में उपलब्ध प्राचीन प्राकृत भाषाएं उसी पुरा-प्राकृत भाषा का जतन करती थी और वह समय के साथ विकसित होती गई थी। जिस प्रकार सिंधू संस्कृति के भौतिक व्यवहारों का प्रवाह कुछ मात्रा में बदले हुए रूप में आज भी निरंतर बह रहा है, उसी प्रकार भाषा का प्रवाह ही अखंडित रूप में बहता रहा है।

२. गुजरात, राजस्थान, सिंध, पंजाब, हरियाना, बलुचिस्तान और पञ्चतनिस्तान इन सिंधू संस्कृति के क्षेत्रों की प्राकृत भाषाओं में आज जो स्थानीय भाषिक अंतर हैं, वह सिंधूकाल में भी थे। एक ओर उत्तर भारत की प्रादेशिक प्राकृत भाषाएं और दूसरी ओर दक्षिण भारत की द्रविड़ी भाषाएं, यह भाषिक वास्तव उस समय भी था। द्रविड़ी भाषाओं के साथ उत्तर भारत के लोगों का व्यापार एवं पारस्परिक सामाजिक/सांस्कृतिक व्यवहार सिंधू काल में भी थे। इसीलिए कई द्रविड़ शब्द उत्तर भारत की प्राकृत भाषाओं में बहुत पहले ही प्रविष्ट हो चुके थे। वेदों पर भाषिक संस्कार करते समय इन्हीं प्राकृत भाषाओं का आधार लिए जाने के कारण वैदिकों ने अनजाने में ये द्रविड़ शब्दों को भी वैदिक भाषा में समाविष्ट किया।

३. आक्रमण, विदेशी शासक और विदेशीयों के यहीं बस जाने के कारण यद्यपि भारतीय प्राकृत भाषाओं पर भी कुछ संस्कार होते गए, उनके मूल भाषिक बीज वही रहे। परभाषाओं से कई शब्द आयात होने के कारण उल्टे ये भाषाएं प्रगल्भ तथा प्रवाही होती गईं। फारसी, अंग्रेजी, फ्रान्सीसी आदि भाषाओं से जिस प्रकार भारतीय भाषाओं ने कई शब्द प्रयोग अपना लिए, उसी प्रकार उन भाषाओं ने प्राकृत से भी कई शब्द अपना लिए।

४. मुघल सत्ता दीर्घ काल रहने के कारण भारतीय भाषाओं में उस समयावधि में अनगिनत फारसी शब्द अवश्य प्रविष्ट हुए किन्तु इससे इन भाषाओं का फारसीकरण नहीं हुआ। मुघलों की सत्ता समाप्त होते ही तत्कालीन दैनिक उपयोग के फारसी शब्द व्यवहार में लुप्त हो गए। शिवाजी महाराज के समय मराठी भाषा पर भी फारसी शब्दों का काफी प्रभाव रहा, किन्तु इससे मराठी का मराठीपन कम नहीं हुआ। इसलिए, आर्य आक्रामकों द्वारा यहां की भाषाओं का आर्योकरण किया गया और मूल भाषाएं नष्ट की गईं, इस धारणा को मात्र भाषिक अंधश्रद्धा कहा जा सकता है।

५. वैदिक भाषा मूलतः मिश्र एवं कृत्रिम रूप से तैयार की गई भाषा होने के कारण उसे किसी भी भाषा की जननी माना नहीं जा सकता। उल्टे, स्वयं इस भाषा के ही कई माता-पिता होने के कारण वह वैदिकों के भी व्यवहार से अल्प काल में ही लुप्त हो गई।

भाषागुट सिद्धान्तः एक विवेचन

युरोपियन विद्वानों पर इस सिद्धान्त का भारी प्रभाव है कि, इंडो-युरोपियन भाषाएं ही सब से प्राचीन हैं और आर्य अथवा इन भाषाओं के बोलनेवाले लोग सही मायनों में कहां, कैसे और किस समय रहे इसका एक भी पुरातत्त्वीय या ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। ऐसा एक भी स्थान, तकनीक या ऐतिहासिक उल्लेख नहीं मिलता जो यह सिद्ध करें कि, इन भाषाओं के बोलनेवाले लोगों के वंशज विश्वभर में फैले और उन्होंने इन भाषाओं तथा संस्कृति का प्रसार किया। इंडो-युरोपियन भाषागुट का अस्तित्व यह एक भाषावैज्ञानिक घटना है। इन मूल इंडो-युरोपियन भाषाएं बोलनेवाले लोगों का अस्तित्व कहीं ना कहीं होना आवश्यक है और इतिहास के किसी ना किसी चरण में उनका अस्तित्व युरेशिया में होना आवश्यक है किन्तु इसका कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

“इंडो-युरोपियन भाषाओं का इतिहास और भूगोल इनके कोई संकेत भी नहीं मिलते और इस कारण इस संबंध में कोई भी ठोस कथन नहीं किया जा सकता। फिर भी विभिन्न साधनों द्वारा इन भाषाओं का समयावधि तथा मूल स्थान निश्चित करने का प्रयास करने में विद्वान जुटे हैं। जैसे, वे किसी भी भाषा में बदलाव आने के लिए कितना समयावधि आवश्यक होता है इस का गणित जुटा रहे हैं। यह भी निश्चित करने का प्रयास किया जा

रहा है कि, ये पुरा- इंडो-युरोपियन भाषाएं बोलनेवाले लोग सही मायनो में कब विभिन्न दिशाओं में विस्थापित होने लगे थे। इस विभाजन के पश्चात भाषा-भगिनीयों के व्याकरण तथा शब्दसंग्रह में इतना बदलाव कैसे आया और उसके लिए कितना समय लगा इस पर भी विचार हो रहा है ताकि मूल भाषा का समय निश्चित करना संभव होगा... दुर्भाग्य से, ये प्रयास सफल नहीं हुए। इसका कारण यह है कि, इन भाषाओं में बहुत बड़े बदलाव आए हैं और इस संबंध में किसी भी एक सिद्धान्त पर विद्वानों में एकमत नहीं है। संक्षिप्त में कहें तो दक्षिण रशिया का स्टेपे प्रांत यही इन भाषाओं का मूल स्थान मानने की ओर विद्वानों में केवल इसलिए झुकाव है कि वह प्रांत विशाल युरेशिया का केन्द्रबिंदू है जहां से चारों दिशाओं में जाना सुलभ था। इसके अतिरिक्त इस स्थान में ऐसी कोई विशेषता नहीं है, जिसके आधार से कोई ठोस कथन किया जा सके।”¹⁹

इसका अर्थ है, यह सिद्धान्त ऐसा प्रतिपादन करने का प्रयास करता है कि, मूल इंडो-युरोपियन भाषाएं बोलनेवाले लोग किसी स्थान पर एकसाथ बसते थे और उनके विस्थापन के कारण उनकी भाषाएं भी फैली। किन्तु हमने देखा कि, यह स्थानांतर सिद्धान्त अवैज्ञानिक है और विभिन्न भाषागुटों को निर्माण कम से कम एकभाषक मानवीय गुट के स्थानांतरण से नहीं हुआ है। अपितु, यद्यपि युरेशियन भाषाओं में पूर्ण रूप में न सही, कुछ बातों में समानता है। इन भाषागुटों का प्रभाव महाराष्ट्र तक ही क्यों रहा और वहां से दक्षिण भारत में पूर्णतया भिन्न भाषागुट क्यों हैं, इसका उत्तर यह सिद्धान्त नहीं दे पाता।

भगवान राम ने दक्षिण दिशा में आक्रमण कर वहां आर्य संस्कृति का प्रसार किया ऐसा एक मत भारत में प्रचलित है। किन्तु यदि उसने केवल संस्कृति का ही प्रसार किया, भाषा का नहीं, ऐसा क्यों? आर्य स्थानांतर सिद्धान्त यदि सत्य माना जाए तो भारत में आर्यों का आगमन सवा-तीन हजार वर्ष पूर्व हुआ। इतने प्रदीर्घ समय में और भगवान राम के दक्षिणी अभियान के पश्चात भी केवल इसी एक अखंडित भूभाग में एक भिन्न भाषागुट कैसे टिका रहा, वह इंडो-युरोपियन भाषाओं से प्रभावित क्यों नहीं हुआ, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। यानी भाषागुट सिद्धान्त को सत्य मानने से भी कपोलकल्पित स्थानांतर सिद्धान्त इसका निर्णायक उत्तर नहीं दे पाता। इसी कारण से हमें अन्य वैकल्पिक सिद्धान्त खोजने आवश्यक हैं। प्रस्तुत पुस्तक के प्रतिपादन के अनुलक्ष्य में हम केवल पर्याप्त कथन करेंगे।

उत्तर एवं दक्षिण भारत के भाषागुट

ऋग्वेद की भाषा पर अवेस्ती भाषा का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है किन्तु यदि इसी वैदिक भाषा से प्राकृत भाषाओं का जन्म हुआ यह माना जाए तो प्राकृत भाषाओं पर भी अवेस्ती भाषा की विशेषताओं का अल्प या आंशिक प्रभाव दिखाई देना आवश्यक है, जो वास्तव नहीं है। इस कारण भारत में प्राकृत या स्थानीय, स्वतन्त्र एवं पारंपरिक भाषाओं का अस्तित्व था यह स्पष्ट होता है। आनुवंशिक विज्ञान को प्रमाण माना जाए तो उत्तरी भारत के लोग प्रायः ‘आर’ गुट के तो दक्षिण के लोग ‘एल’ गुट के हैं। इसलिए, उत्तर एवं दक्षिण भारतीय आनुवंशिकी भिन्न हैं ऐसा मानकर भाषा का प्रश्न सुलझाने का प्रयास किया जाता है। यद्यपि उत्तर और दक्षिण भारत महाराष्ट्र के माध्यम से भौगोलिक रूप से जुड़े हैं, महाराष्ट्र के दक्षिण में अलग भाषागुट का होना स्थानांतर तथा भाषाप्रचार के सिद्धान्त को छेद देता है। स्थानांतरित इंडो-युरोपियन लोग ईशान्य भारत को छोड़ विशाल उत्तर भारतीय भूप्रदेश की भाषा एवं वंशाणुओं को प्रभावित कर सके किन्तु दक्षिण भारत में नहीं, यह वास्तव स्थानांतर सिद्धान्त को रद्द करता है किन्तु स्थूल रूप से भाषागुटों के अस्तित्व का वास्तव नकारा नहीं जा सकता। आईए, अब हम इस के कारणों पर विचार करेंगे।

भारतीय भाषाओं पर दक्षिण रशिया के स्टेपे प्रांत से स्थानांतरित हुए मूल इंडो-युरोपियन लोगों की भाषाओं का प्रभाव है ऐसी मान्यता है। सर्वसाधारण रूप से यह भी माना जाता है कि, आर्य जब ईरान में स्थायी हुए, तब उनकी एक शाखा भारत में आई। एक मतानुसार इस शाखा का स्थानांतर दो या तीन लहरों में

हुआ जिसमें पहली लहर तथा तीसरी लहर के लोगों की भाषाओं में कुछ अंतर था।²⁰ स्थानांतर एक ही समय हुआ हो या विभिन्न या रीसने के सिद्धान्त के अनुसार धीरे-धीरे और दीर्घ समय तक हुआ हो, यह बात तो निश्चित है कि, उन लोगों की भाषा यहां की स्थानीय भाषा नहीं थी।

यदि स्टेपे प्रांत को इंडो-युरोपियन भाषाओं की निर्मिती का केन्द्र माना जाए, तो जहां भी ये भाषाएं गई वहां मूल भाषा के साथ साधार्म्य रखनेवाली भाषाएं ही होनी आवश्यक थी। यानी किसी भी मराठी मनुष्य को गुजराती, हिन्दी या बंगाली भाषा जितनी समझ में आती होगी, उतनी ही ग्रीक या लैटिन भाषा भी समझनी आवश्यक थी। आखिर, इस भाषागुट की निर्मिती ही मूल इंडो-युरोपियन भाषा बोलनेवालों के स्थानांतरण के कारण हुई है तो भाषा के प्रसार का नियम सभी स्थानों को लागू होगा। यानी उन भाषाओं का जैविक नाभिरज्जु भी आकलन की कक्षा में ही होनी आवश्यक होगी। यदि स्थानीय भाषाओं के प्रभाव के कारण मूल इंडो-युरोपियन भाषाएं विभिन्न प्रदेशों में असाधारण रूप में बदल गई ऐसा कहें तो स्थानीयों ने ही इंडो-युरोपियन भाषा वाहकों को बदल दिया ऐसा कहना होगा। और इस तरह यदि स्थानांतरितों की मूल भाषाओं द्वारा स्थानीय भाषाओं के भारी प्रभाव के कारण नई दिशा अपनाई होगी व उसके केवल कुछ पुरातन भाषावशेष ही अवशिष्ट रहे होंगे, तो ऐसे भाषागुट को इंडो-युरोपियन का नाम देना उचित नहीं होगा बल्कि यह कहना होगा की स्थानीयों ने इन स्थानांतरितों की भाषाओं को निगल लिया और इसी कारण उन भाषाओं में इंडो-युरोपियन भाषाओं से साधार्म्य रखनेवाले शब्दों की संख्या अल्पस्वल्प है, यह कहना होगा। यह भी ठोस रूप से नहीं कहा जा सकेगा की ये शब्द स्थानांतरितों के ही कारण उन भाषाओं में समाविष्ट हुए हैं। किसी भाषागुट की भाषाओं में एक समान प्रवृत्ति होती है यह मान भी लिया जाए तो भी भाषानुसार इस प्रवृत्ति की तीव्रता अधिक या कम हो सकती है और ऐसा क्यों, इसका कारण स्थानांतरवादी नहीं दे पाते।

ग्रीक और संस्कृत इन भाषाओं में दिखाई जानेवाली समानता बल्पूर्वक लाई गई एवं अस्पष्ट है। लैटिन भाषा के कुछ शब्द संस्कृत के शब्दों के समान हैं, जैसे, मातृ-मातेर, सर्प-सर्पेटम, नास-नौस, नाम-नोमेन आदि, किन्तु इससे क्या व्यक्त होता है, इस ओर ध्यान देना आवश्यक है। यहां यह बात ध्यान देनेयोग्य है कि, मूलतः ऋग्वेद में ‘सर्प’ यह शब्द नहीं है, इसके लिए ‘अहि’ शब्द का प्रयोजन किया गया है। ‘सर्प’ शब्द वैदिकों के प्रारंभिक शब्दसंग्रह में नहीं था और ‘अहि’ शब्द अवेस्ता में ‘अझी’ के रूप में पाया जाता है। वेदों का ‘अहिदाहक’ शब्द अवेस्ता में ‘अझीदाहक’ लिखा गया है और इन दोनों ही शब्दों का अर्थ ‘सर्पों का नाश करनेवाला’ है। दूसरी ओर पुरा लैटिन भाषा में ‘अहि’ या ‘अझी’ के निकट जानेवाला सर्पनिर्देशक एक भी शब्द नहीं है। यदि ‘सर्प’ यह शब्द वैदिक शब्दसंग्रह में था ही नहीं, तो वह वहां से लैटिन भाषा में कैसे जाएगा और उसे इंडो-युरोपियन भाषा की संज्ञा में कैसे डाला गया? वास्तव में वैदिकों के भारत में आगमन के पश्चात यहां की प्राकृत भाषा का ‘सर्प’ यह शब्द ध्वनिबदल के साथ ‘सर्प’ बना। तैत्तिरीय संहिता में ‘सर्प’ यह शब्द पहली बार आया हुआ पाया जाता है। इसके पश्चात किसी समय वह लैटिन भाषा में प्रविष्ट हुआ और ‘सर्पेटम’ बना और फिर अंग्रेजी में ‘सर्पेट’ बना। इस तरह वह किसी समय मूलतः प्राकृत ही से गया यह स्पष्ट है। कोई भी भाषा का जन्म कैसे होता है और भाषा तथा संस्कृति पर स्थानीय भूगोल तथा भूगर्भविज्ञान का प्रभाव कैसे होता है इसे अनदेखा कर एक खोखला सिद्धान्त बनाया गया है किन्तु अब प्रस्तुत लेखक एक वैकल्पिक और अधिक विश्वसनीय सिद्धान्त प्रस्तावित करता है, जो भाषागुट का प्रश्न हल करने में सहायक सिद्ध हो सकता है। इसके लिए प्रस्तुत नए सिद्धान्त का प्रस्ताव संक्षेप में देखते हैं।

उत्तर भारत में आंशिक समानता दर्शनेवाली भाषाएं प्रचलित है, यह वास्तव है। ये भाषाएं महाराष्ट्र के ऊपरी भागों में पाई जाती हैं। इसके विपरीत महाराष्ट्र के दक्षिण की ओर यद्यपि भूभाग अखंडित है, भाषाएं भिन्न बोली जाती हैं। सब से पहले हमें भूगोल, भूगर्भ तथा प्रादेशिक भाषाओं का मूलकारण हमें समझना आवश्यक है।

भूगोल, भूगर्भ और प्रादेशिक भाषाएं

हमारे परिसर में कुछ विशेषताएं होती हैं। पूर्व समय में कहा जाता था कि, प्रत्येक बारह कोस की दूरी पर भाषा बदलती है। इस स्थिती में आज भी कई परिवर्तन नहीं हुआ है। सामान्य रूप से एक भाषा का एक पट्टा होता है किन्तु उस में कई उप-विभाग होते हैं, जहां पर बोलीयां बदलती हैं, उच्चारण पद्धतियां बदलती हैं तथा वाक्यों की रचना भी बदलती है। कुछ स्थानीय, अन्य क्षेत्रों में अज्ञात ऐसे शब्द पाए जाते हैं। कई भिन्न, स्वतन्त्र चलन की कहावतें पाई जाती हैं। भाषा के साथ निश्चय ही स्थानीय संस्कृति भी बदलती दिखाई देती है। अकेले महाराष्ट्र में सामान्य रूप से मराठी की ५३ उप-भाषाएं या बोलीयां हैं। यही स्थिती अन्य स्थानों पर भी है। प्रत्येक मुख्य भाषक प्रदेश में इस प्रकार अनेक बोलीयों का अस्तित्व पाया जाता है और संपूर्ण विश्व में यह बात समान है। अमेरिका में वहां की अंग्रेजी मूल ब्रिटिश अंग्रेजी की अपेक्षा कई मामलों में भिन्न है। इसके अतिरिक्त भी अमेरिका में प्रांतनिहाय अंग्रेजी भाषा भिन्न है तथा वहां के उच्चारण भी भिन्न हैं। वहां भाषा के भेद का स्वरूप वांशिक भी है, जैसे आफ्रिकान्स अंग्रेजी, हिस्पैनिक अंग्रेजी आदि। भाषा एक ही होने पर भी विश्वभर में ऐसे भेद हमें दिखाई देते हैं। भाषा हर स्थान पर एक जैसी नहीं रहती और इसीलिए प्रमाण भाषाओं का आग्रह किया जाता है, यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है। किन्तु प्रश्न यह है कि, एक ही भाषा बोलनेवाले समुद्रों में इस प्रकार बोलीयों में भेद क्यों होता है? इसका उत्तर एक विशिष्ट भाग में बसनेवाले लोगों के सामान्य सामूहिक मनोविज्ञान में होता है, ऐसा कहा जा सकता है।

प्रादेशिक मानसिकता स्थानीय भूवैज्ञानिक विशेषताओं की भिन्नता के अनुसार निकट के प्रदेशों में बदलती है और वह भाषा तथा संस्कृति की एक महत्वपूर्ण कारक होने के कारण इस में के भेदों के अनुसार भाषा एवं सांस्कृतिक बदल होते जाते हैं। कहा जा सकता है कि, यही सामूहित मानसिकता भाषा की सर्वसाधारण प्रवृत्ति परिभाषित करती है। सामान्य रूप से समान भूवैज्ञानिक रचना युक्त प्रदेशों में भाषा एक ही होती है, किन्तु स्थानीय भेदों की तीव्रता के अनुसार वह पृथक रूप धारण करती है। इसे ही हम गुट की सदस्य या उपभाषा कहते हैं।

प्रत्येक भूप्रदेश की अपनी भूवैज्ञानिक विशेषताएं होती हैं, जैसे –

१. मिट्टी, पत्थर, भूगर्भस्थित खनिजों का वितरण। कहीं कोई खनिज विपुल होता है तो कहीं कम और कहीं विभिन्न खनिजों का मिश्रण पृथक औसत में, अनियमित एवं बिखरा हुआ होता है।
२. भूगर्भ में उपस्थित विभिन्न खनिजादि चीजों के अनुसार प्राकृतिक रूप से उगनेवाले वृक्ष, लताएं और प्राणिसृष्टि का वितरण।
३. हर प्रदेश का पुरातन भूगर्भवैज्ञानिक इतिहास भिन्न होता है।
४. भू-चुंबकीय एवं गुरुत्वीय बलों का वितरण पृथक्विपर समान नहीं होता। भूगर्भवैज्ञानिक रचनानुसार वह स्थान एवं कालसापेक्षा बदलता रहता है। संक्षिप्त में कहें, तो प्रत्येक भूभाग का गुरुत्व समान नहीं होता और मानवीय मनोविज्ञान को प्रभावित करनेवाला यह भी एक कारक होता है।
५. प्रदेश की भूगर्भवैज्ञानिक रचना के अनुसार स्थानीय कृषि उपज एवं जलाशयों के पानी में उपस्थित खनिजों का अनुपात भिन्न होता है।
६. भूगर्भीय (टैक्टोनिक) गतिविधियों के कारण मुक्त होनेवाली ऊर्जा मानवी मनोविज्ञान को प्रभावित करती है।

द्रविड़ी भाषागुट

भूवैज्ञानिक तथा भौगोलिक दृष्टि से आंध्र, कर्नाटक, केरल तथा तमिलनाडू राज्य सदर्न ग्रैन्युलाईट टेरेन में समाविष्ट होते हैं। यह भूवैज्ञानिक संरचना अन्य भारतीय भूप्रदेशों से अलग है। इस भाग का भूवैज्ञानिक इतिहास पुरातन है और मादागास्कर द्वीप के साथ जुड़ा है। भूर्गर्भ में हो रही गतिविधियों के कारण प्राचीन (कैब्रियनपूर्व) समय में यह भूभाग भारतीय उपखंड के साथ मादागास्कर द्वीप से टूट कर जुड़ गया और इस प्रक्रिया में जो भी भूर्गर्भीय गतिविधियां घटी उनके कारण दक्षिण भारत का संकीर्ण पट्टा वैशिष्ट्यपूर्ण प्रकार से विभिन्न विक्षेपों से युक्त हुआ, जिससे भूरचना में भी बड़ा परिवर्तन हुआ। इसी कारण इन तीन प्रदेशों का भूरचना मिश्र है, मध्य एवं उत्तर भारत से भिन्न है। भूर्गर्भीय विक्षेपों का परिमाण कर्नाटक, आंध्र, केरला तथा तमिलनाडू में बहुत अधिक है।

आंध्र, कर्नाटक, केरल तथा तमिलनाडू इन राज्यों की भू-विशेषताओं का उत्तरी भारत की विशेषताओं की अपेक्षा भिन्न रूप सहज दिखाया जा सकता है। जैसे, भूवैज्ञानिक दृष्टि से कर्नाटक प्राचीन, कठिन तथा स्फटिकीय क्रिस्टलीय चट्टानों से युक्त स्थिर प्रदेश है जहां भूकम्प या भूस्खलन का खतरा लगभग नहीं के बराबर है। पृथ्वी का कवच जिस समय बना, उसी समय कर्नाटक एक ढाल प्रदेश बन गया। इसके पश्चात इस भाग में घटी कई भूर्गर्भीय गतिविधियों के कारण यहां विविधता उत्पन्न हुई। यह अधिकांश भाग डेक्कन ट्रैप का भाग है और धारवाड, कुर्नूल, कडप्पा, कलादगी एवं भीमा आदि प्रणालियों के निक्षेप यहां पाए जाते हैं। इसी का विस्तार आगे आंध्र की दिशा में होता जाता है। स्थानीय भू-विशेषताएं भूर्गर्भीय विक्षेपों के कारण भिन्न रूप धारण करती हैं और यह भिन्नता भूपृष्ठ के भौगोलिक प्रारूप में सहज देखे जा सकते हैं। हम यह भी देख सकते हैं कि, जहां ये बदलाव देखे जा सकते हैं, उसी प्रदेश में भाषा में भी बदलाव होते हैं। उदाहरण के रूप में, तमिलनाडू में कैब्रियनपूर्व काल में बहुत-से स्थानों पर भौगोलिक विक्षेप हुए। केरल की पट्टी कैब्रियनपूर्व काल के स्फटिकों से बनी है। इन सारी भिन्नताओं के कारण आज हमें इन प्रदेशों में भाषागुट के एक होनेपर भी विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं एवं उपभाषाओं का अस्तित्व दिखाई देता है।

महाराष्ट्र से जैसे-जैसे उत्तर दिशा में बढ़ते जाएं, वैसे-वैसे भिन्न प्रकार की भूरचना हमें दिखाई देती है। महाराष्ट्र का अधिकांश भूभाग ज्वालामुखी से बने बसाल्टी लाव्हा की परतों से, यानी काले पत्थर से व्याप्त है और यही महाराष्ट्र की खास भूवैज्ञानिक विशेषता है। असिताश्म, चूना पत्थर आदि से युक्त कई भाग भी यहां हैं। कोंकण में सर्वत्र तथा सातारा और कोल्हापूर के पश्चिमी भागों में जांभा पत्थर है। पूर्व विदर्भ में ग्रेनाईट तथा चूना पत्थर के भूस्तर हैं। महाराष्ट्र की जमीन मुख्य रूप से ऑर्जाईट, बसाल्ट, ग्रेनाईट तथा पट्टिताश्म जैसे पत्थर प्रकारों से बनी है। बिहार, उत्तर प्रदेश, पंजाब एवं राजस्थान इन प्रदेशों में स्थानीय भिन्नता के अपवाद से भूकवच अखंडित है।

इस दृष्टि से दक्षिण भारत तथा महाराष्ट्र की भूरचना में बहुत बड़ा भेद है। भूवैज्ञानिक दृष्टि से मध्य प्रदेश दछबन पठार ही का भाग है, किन्तु स्थानीय भेद के कारण यहां की भूवैज्ञानिक संरचना महाराष्ट्र से अलग है। विंध्य पर्वत, बालाघाट के टीले, मैकल पर्वतशृंखला और चम्बल घाटी आदि ने इस भूभाग को अलग रूप प्रदान किया है। मराठी भाषा का प्राकृत भाषाओं के साथ एक धागा जुड़ा हुआ होनेपर भी उसकी अपनी आत्यंतिक भिन्न विशेषताएं हैं और इसके पीछे स्थानीय भूविज्ञान का यहां की सामाजिक मानसिकता पर पड़ा प्रभाव है, ऐसा कहा जा सकता है। जहां समान भूर्गर्भीय रचना है, वहां यद्यपि स्थानीय विक्षेपों के कारण कुछ भेद दिखाई देते हैं, मुख्य विशेषताएं व्यापक रूप से समान होती हैं। इसलिए चाहे भाषाएं बदलती रहे, उन में मूलभूत भाषिक नाता कायम रहता है। समान विशेषताओं से युक्त भाषाओं के ऐसे समूह को हम भाषागुट कहते हैं। दक्षिण भारत की भूर्गरचना तथा महाराष्ट्र से ऊपर उत्तर दिशा के प्रदेश की यही रचना एकदूसरे से पूर्ण रूप से भिन्न होने के कारण उत्तर में एक अलग भाषागुट दिखाई देता है। मेरे नवप्रस्तावित सिद्धान्त के अनुसार स्थानीय भू-विशेषताएं और भाषाओं में एक संबंध होता है और समान भूविशेषताओं से युक्त प्रदेश में कुछ

परिमाण में समान प्रवृत्ति दर्शनिवाली भाषाएं जन्म लेती हैं। पाठक भूगर्भविज्ञान की सहायता से इसका सत्यापन कर सकते हैं। मेरे मत से स्थानांतर सिद्धान्त की अपेक्षा यह सिद्धान्त सत्य के अधिक निकट जाता है। भू-चुंबकत्व भी सामाजिक/प्रादेशिक मानसिकता को प्रभावित करता है और उसमें यदि कोई बदलाव आए, तो उस प्रदेश की मानसिकता में भी अचानक परिवर्तन हो कर वहां की भाषा शैली एवं व्यवहारिक संस्कृति में भी कुछ अंतर उत्पन्न हो जाता है।

भू-चुंबकत्व

भू-चुंबकीय दृष्टि से भी यह भाग अलग सिद्ध होता है। भू-कवच के असंगत विक्षेपों के कारण प्रदेशनिहाय भू-चुंबकत्व बदलता जाता है। भू-चुंबकीय क्षेत्र के कारण दिक्दर्शक की सुई जो दक्षिण और उत्तर दिशाएं निर्देशित करती है वे वास्तविक या भौगोलिक दिशाएं नहीं होती बल्कि स्थानीय चुंबकीय क्षेत्र की दक्षिण तथा उत्तर दिशाएं होती हैं। इस चुंबकीय क्षेत्र के प्रभाव के कारण पृथ्वी की जीवसृष्टि आकाश से आनेवाले उच्च विद्युतभारित कणों से कुछ हद तक रक्षा होती है। ध्रुवीय प्रकाश का प्रकटन केवल ध्रुव प्रदेश में ही अनुभूत होता है उसका कारण भी वहां का चुंबकीय क्षेत्र ही है। पक्षी दूरदेशों से स्थानांतर करते अचूक विशिष्ट स्थान पर आते और लौटते हैं इस में उन्हें चुंबकीय क्षेत्र ही की सहायता होती है। भू-चुंबकीय क्षेत्र में कभी-कभी कोई आकस्मिक बदलाव हो जाए, तो रेडियो संदेशों के वहन में व्यत्यय आता है। भू-चुंबकीय क्षेत्र के मापन द्वारा लोह गुट के धातुओं तथा खनिज तैल के भंडारों की खोज की जा सकती है। पृथ्वी से दूर अवकाश में पाए जानेवाले वैन एलन प्रारण पट्ट भी भू-चुंबकीय क्षेत्र ही के कारण बने हैं। आज यह सिद्ध हो चुका है कि, प्रदेशानुसार भू-चुंबकत्व अलग होता है तथा समय के साथ वह तीव्र या क्षीण होता रहता है।

चुंबकीय क्षेत्र का मानसिकता पर पड़नेवाला प्रभाव इस ओर मनोवैज्ञानिकों का ध्यान कुछ समय पूर्व ही गया है किन्तु इसका मानवी मन पर प्रभाव होता है यह बात सिद्ध हो चुकी है। भू-चुंबकीय तुङ्गानों के कारण लोगों वर्तन तथा भाव-भावनाओं पर परिणाम होने की बात भी सिद्ध हो चुकी है और यह भी पता चल गया है कि, भू-चुंबकीय क्षेत्र मस्तिष्क की जैविक-रासायनिक प्रक्रियाओं पर दीर्घकालीन परिणाम करता है। हर्बर्ट कोनिंग, अलेक्झांडर प्रेसमैन तथा अन्य कई वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया है कि, मानव की उत्कांति में भू-चुंबकत्व का हिस्सा निर्णायिक था। प्रादेशिक भू-चुंबकीय क्षेत्रों की तीव्रता कृत्रिम चुंबकों की अपेक्षा कम होती है किन्तु उसकी व्याप्ति विशाल और दूर तक होती है। जिस प्रदेश में (खदानों तथा मिट्टी में) चुंबकानुकूल खनिज बड़ी मात्रा में बिखरे होते हैं, वहां भू-चुंबकीय तीव्रता अधिक पाई जाती है। भूगर्भीय गतिविधियों के कारण भी यह तीव्रता कम या अधिक हो जाती है।

मनुष्य उसके भूगोल के साथ निरंतर जुड़े रहने के कारण उसके स्थानीय भू-चुंबकत्व का उसकी मानसिकता पर दीर्घकालीन प्रभाव रहता है ... बल्कि वह निर्णायिक होता है, यह कहना अनिवार्य है। मिट्टी में उपस्थित खनिजों का वितरण तथा अन्न एवं जल के रूप में पीढ़ी दर पीढ़ी उनके शरीर में प्रविष्ट होने के कारण शरीररचना के साथ-साथ मानसिकता है बनने में भी उनकी भूमिका होती है। शरीर में किसी खनिज का परिमाण कम या अधिक हो जाए तो इसका मनुष्य की भावभावनाओं पर भी विपरीत परिणाम होता है यह बात आधुनिक मनोविज्ञान द्वारा मान्य की गई है। इसीलिए वैद्यक उपचारों में वीटैमीन के रूप में उनका प्रयोग किया जाता है। अन्न तथा जल द्वारा जो खनिज सेवन किए जाते हैं वे मस्तिष्क की जैव-रासायनिक संरचना को प्रभावित करते हैं। विशिष्ट प्रदेश की जमीन की भू-रासायनिक विशेषताएं स्वाभाविक रूप से मनुष्य के शरीर में उत्तरती हैं और उस प्रदेश के लोगों की सामान्य मानसिकता और अभिव्यक्ति प्रदेशविशिष्ट होती है।²¹

भाषा मानवी मनोव्यापार का प्रकट रूप होती है। मनुष्य के विचार तथा उसका वर्तन उसकी मानसिकता निश्चित करते हैं और उसका सामान्य मनोव्यापार उसका भूगोल निश्चित करता है। यदि हम इस

दृष्टि से अफगानिस्थान, ईरान होते युरोप तक देखें तो हमें कई भू-रासायनिक एवं भूवैज्ञानिक विशेषताएं कुछ परिमाण में समान तो कुछ परिमाण में पूर्ण रूप से असमान दिखाई देंगी। सेमेटिक भाषाओं का प्रदेश जहां शुरू होता है, वहां से आगे भूवैज्ञानिक संरचना भी पूर्ण रूप से भिन्न दिखाई देगी। इसे मात्र संयोग नहीं कहा जा सकता। पुरा-इंडो-युरोपियन भाषाएं बोलनेवाले लोग सोच-समझकर सामान्य रूप से समान भूगोल में विस्थापित हुए और उन्होंने अपनी भाषाओं का वहां प्रसार किया यह युरोपियन भाषाविदों का मत इस प्रकार अर्थहीन सिद्ध होता है।

संक्षेप में कहा जाए, तो भाषाओं का मूल मानव की मानसिकता में है। वह विचार करता है और भाषा तथा अन्य साधनों द्वारा विचारों को अभिव्यक्त करता है। उसकी मनोव्यापार उसका भूगोल निश्चित करता है। उस भूगोल के अनुसार और स्थानीय विशेषताओं से उसकी एक प्रादेशिक भाषा निर्माण होती है। ऐसी ही कुछ समान विशेषताएं (किन्तु अन्य भूभागों से कुछ परिमाण में भिन्न) दर्शनेवाले भूप्रदेश में अलग-अलग किन्तु सतही रूप में एक ही मूल की ओर निर्देश करनेवाली विभिन्न भाषाओं का निर्माण मनुष्य करता है। शब्दसंग्रह की उधारी मान भी ली जाए, तो भी भाषा की मूलभूत संरचना लगभग समान रहती है। हजारों वर्षों से प्राकृत एवं द्रविड़ी भाषाएं बोलनेवाले लोग एकदूसरे के साथ संपर्क में तथा भौगोलिक रूप में पड़ौसी होनेपर भी उनकी भाषागुट स्वतन्त्र रहे इसका मूल कारण उनके भूवैज्ञानिक भेद में और उसी से प्रभावित सामुहिक प्रादेशिक मानसिकता में है। हालांकि यह पहले ही स्पष्ट किया गया है कि, कोई भी भाषा किसी भी समाज पर लादी नहीं जा सकती, वह इस परिप्रेक्ष्य में अधिक स्पष्ट हो जाती है।

प्रस्तुत मुद्दों में कुछ निरीक्षण तो कुछ दावे हैं ऐसा कहा जा सकता है किन्तु इन सभी बातों के साथ रहनेवाले मनुष्यों की सामान्य मानसिकता पर इन घटकों का प्रभाव होना अनिवार्य है। विशिष्ट भाग में रहनेवाले लोगों की केवल भाषा ही विशेष नहीं होती, यह विशेषता उन लोगों की सामान्य मानसिकता में भी दिखाई देती है। यही सामुहिक मानसिकता निजी मानसिकता को भी प्रभावित करती है, यह ठोस कहा जा सकता है। मूलतः भाषा एवं संस्कृति मानवों की विशिष्ट मानसिकता का प्रकटीकरण होने के कारण तथा उन्हें प्रभावित करनेवाला महत्वपूर्ण घटक भूवैज्ञान होने के कारण भूवैज्ञान और भाषा का संबंध लगाया जा सकता है।

प्रस्तुत सिद्धान्त पर अधिक गंभीरता से विचार किया जा सकता है। इस में स्थानांतर या आक्रमण सिद्धान्त भाषाओं के वितरण का प्रश्न हल नहीं कर सकता इस ओर ध्यान देना आवश्यक है।

¹ (Rig Veda, Indus Culture and the Indo-Iranian Connections, IRANIAN JOURNAL OF ARCHAEOLOGICAL STUDIES 1: 1 (2011), Pramod V. Pathak

² (Formation of the Marathi Language By J. Bloch, Motilal Banarsiadas Publ., 1970, pp 1-2)

³ A Grammar of the Prākrit Languages By Richard Pischel, Motilal Banarsiadas Publ., 1981, pp 5

⁴ Paia-sadda-mahannavo (a Comprehensive Prakrit-hindi Dictionary) by Pandit Hargovind Das T. Sheth, Motilal Banarsiadas Publ., pp 22-25

⁵ Witzel, Michael (1999). "Substrate Languages in Old Indo-Aryan (Rigvedic, Middle and Late Vedic)" (PDF). Electronic Journal of Vedic Studies 5 (1). Archived from the original (PDF) on 6 February 2012

⁶ The Sanskrit Language by Thomas Burrow, faber & Faber, 1955

⁷ "A History of Ancient Sanskrit Literature", by F. Max Muller, 1859, page 570

⁸ Miscellaneous Essays, Volume 1, By Henry Thomas Colebrooke, see footnote, 1837, page 309

⁹ TRACING THE VEDIC DIALECTS, M. Witzel, Cambridge, Mass, Version July 27, 1987, pp, 1-15, published at Paris 1989

¹⁰ भारतीय संस्कृति कोश, खंड ९, संपादक- पं. महादेवशास्त्री जोशी, भारतीय संस्कृति कोश मंडल, २०००, पृ. २०९

¹¹ Greater Magadha- Studies in the Culture of Early India by Johannes Bronkhorst, Brill, 2007, pp 183-184, 193-194

¹² सातवाहन आणि पश्चिमी क्षत्रप यांचा इतिहास आणि कोरीव लेख, वा. वि. मिराशी, महाराष्ट्र राज्य साहित्य व संस्कृति मंडळ, १९७९

-
- ¹³ Paia-sadda-mahannavo (A Comprehensive Prakrit-hindi Dictionary) by Pandit Hargovind Das T. Sheth, pp 57
- ¹⁴ (Buddhist Hybrid Sanskrit Grammar and Dictionary, Franklin Edgerton, Munshiram Manoharial Publishers Private Limited, 2004)
- ¹⁵ संस्कृत आणि प्राकृत भाषा-व्यवहार, नियमन आणि शास्त्रचर्चा, डॉ. माधव मुरलीधर देशपांडे, शुभदा सारस्वत प्रकाशन, १९९५, पृ. ६१, १८१
- ¹⁶ A History of Indian Literature, Volume 1 By Moriz Winternitz, Motilal Banarasidas, 1996
- ¹⁷ A History Of Indian Literature, vol.1, by Winternitz, M., 1927, Univercity of Calcutta, pp. 15, 44
- ¹⁸ Introduction to Prakrit by Alfred C. Woolner, University of the Punjab, Lahort, 1917, pp. 3, 78-79
- ¹⁹ *The Indo-Europeans and Historical Linguistics*, <http://www.usu.edu/markdamen/1320Hist&Civ/chapters/07IE.htm>
- ²⁰ Indo-Aryan by Leonid Kulikov in The Indo-European Languages edited by Mate Kapović, Anna Giacalone Ramat, Paolo Ramat, Taylor & Francis, 2017
- ²¹ Geomagnetism: Solid Earth and Upper Atmosphere Perspectives By Nathani Basavaiah, Springer Science & Business Media, 2012, pp. 207, 459

Footnote:

A. देवानंपियो पियदसि राजा एवं आह [.] द्वादसवसाभिसितेन मया इदं आणपितं [.] सर्वत विजिते मम युता च राजूके च प्रादेसिके च पंचसु वासेसु अनुसंयानं नियातु एतायेव अथाय इमाय धमानुसास्ति यथा अन्याय पि कंमाय [.] साधु मातरि च पितरि च सुख्खासा मित्रसंस्तुत- णातिनं वाम्हण –समणानं साधु दानं प्राणानं साधु अनारंभो अपव्ययता अपभाडता साधु [.] परिसा पि युते आणपयिसति गणनायं हेतुतो च व्यंजनतो च [.]

छह

प्राकृत भाषा के प्रकार एवं उनका साहित्य

यहां तक के विवेचन से हम ये देख सकते हैं कि, प्राकृत भाषाएं, न कि वैदिक और संस्कृत अति प्राचीन हैं। सिंधु संस्कृति के लोग उस संस्कृति की कक्षा के प्रदेशों के लोगों के साथ कुछ परिमाण में संबंधित किन्तु स्वतन्त्र बोली में बोलते थे यह स्पष्ट है। यानी आज की बोलीयों का तत्कालीन जो भी पुरा-स्वरूप होगा वही उनकी भाषा का भी होगा। किसी भी जीवित संस्कृति की भाषा जीवित एवं प्रवाहमान होती है। समय के साथ उसमें परिवर्तन होते हैं, शब्दसंग्रह में वृद्धि होती है और उसके संपर्क में आनेवाली अन्य भाषाओं से कई शब्द वह स्वीकार करती है और उन्हें अपने संस्कार एवं अर्थ प्रदान करती है। प्राकृत भाषाओं ने जिस प्रकार वैदिक भाषा की निर्मिति में योगदान दिया उसी प्रकार वैदिकों ने अपने साथ लाई शब्दसंपत्ति से कुछ शब्द, विशेषण तथा संज्ञाओं का भी स्वीकार किया किन्तु उन्हें अपनी पद्धति से और अपने अर्थ प्रदान करते हुए। जैसे, ‘आर्य’ शब्द। यह शब्द पहले अवेस्ता में ‘ऐर्यन’ के रूप में था जो आगे चलकर वेंदिदाद के रचनाकाल में ‘ऐर्यना’ बना। अवेस्ता में ‘ऐरान’ यह संबोधन झरथुष्ट्र की जाति के लिए किया गया है। ‘ईरान’ यह प्रदेशनाम भी इसी से बना है। यद्यपि आगे वैदिकों ने इसका रूपांतर ‘आर्य’ किया, उन्होंने इस नाम का उपयोग किसी जमात या वंश के अर्थ से किया प्रतीत नहीं होता। अधिकांश बार वह एक धर्म का संबोधन है। किसी समय आर्य कही गई भृगु, पुरु आदि टोलियां दाशराज्य युद्ध में वैदिक राजा सुदास के विरुद्ध लड़ी थी और उन्हें ‘अनार्य’ या ‘अयज्ञ’ (यज्ञ ना करनेवाले लोग) कहा गया है। इसका अर्थ है वैदिकों के लिए ‘आर्य’ यह एक धर्म का नाम था, वंश या जाति का नहीं।

पाली तथा अर्धमाग्धी भाषाओं में यह शब्द वैदिक भाषा से आयात हुआ किन्तु यहां उसे एक निराला अर्थ दिया गया। माधव देशपांडे कहते हैं, “गौतम बुद्ध ने ‘अरिय’ इस शब्द का प्रयोग आदरभावयुक्त अर्थ से किया है, जैसे ‘अरिय माग’ या ‘अरिय धम्म’। बुद्ध की आर्यत्व की संकल्पना ब्राह्मणी संकल्पना से पूर्णतया भिन्न है। बल्कि ब्राह्मणी व्यवस्था में संकुचित अर्थ से प्रयोजित ‘आर्य’ शब्द को बुद्ध ने एक पूर्ण रूप से भिन्न अर्थ प्रदान करते हुए तत्त्वज्ञान के उच्च स्तर पर पहुंचाया।”¹ इसका अर्थ है, बुद्ध या महावीर ने अपने धर्म में ‘आर्य’ शब्द का उपयोग वैदिकों को अभिप्रेत अर्थ से नहीं किया। प्राकृत भाषाओं ने इस शब्द को अपने-अपने स्वभाव के अनुसार अर्थ, अज्ञा, अरिय आदि रूपों में स्वीकार किया, किन्तु उसे अपना एक अर्थ प्रदान किया। वास्तव में, ‘आर्य’ शब्द का बुद्ध का लक्ष्यार्थ और महावीर का लक्ष्यार्थ भी एकदूसरे से भिन्न है। इसी तरह हर भाषा, जब वह अन्य भाषा से कोई शब्द उधार लेती है, तब वह उसका न केवल उच्चारण बदलती है बल्कि अपना लक्ष्यार्थ भी उसे प्रदान कर देती है। केवल इसलिए की दो भाषाओं में कुछ शब्द समान हैं यह अर्थ लगाना कि एक का दूसरी पर सांस्कृतिक वर्चस्व है, अनुचित है।

भाषाओं में पुराने शब्दों को नया अर्थ दिया जाना, कुछ शब्दों का चलन से दूर हो जाना आम है। जैसे बैलगाड़ी के अस्त के साथही उससे संबंधित लगभग डेढ़-सौ शब्द विस्मृति की कगार पर पहुंच गए हैं। आधुनिक युग में तकनीकी प्रगति के कारण भारतीय भाषाओं ने कई अंग्रेजी शब्द अपनाए हैं किन्तु इससे उन भाषाओं का आत्मा कदापि नहीं बदला। महाराष्ट्री प्राकृत भाषा आज की मराठी की पूर्वज भाषा है। इस भाषा के अतीप्राचीन, प्राचीन, मध्य, मध्योत्तर एवं वर्तमान इन रूपों की कल्पना की जा सकती है किन्तु मध्ययुग (सातवाहन) की मराठी और आजकी मराठी के व्याकरण तथा शब्दों में सहज दर्शाई जा सके इतनी समानता है। पाली तथा अन्य प्राकृत भाषाओं के संबंध में भी यही वास्तव है। आज जिन शब्दों को संस्कृतोद्भव कहा जाता है वे मूलतः प्राकृत से ध्वनिबदल के माध्यम से संस्कृत में गए हैं और इसके पश्चात विभिन्न बोलीयों में उनके मूल रूप में या सुलभीकरण करने द्वारा उन्हें उपयोग में लाया गया। संस्कृत का मूल उद्देश्य ही ग्रान्थिक कारण से एक

एकरूप भाषा का निर्माण करना था इसलिए उसमें जो ध्वनिबदल किए गए वे मूल प्राकृत शब्दों को ध्वनिमधुरता तथा अर्थ की व्यापकता प्रदान करने हेतु किए गए थे। कई शब्दों में किए गए बदलाव व्याकरण की दृष्टि से क्लिष्ट होने के कारण उनका पुनः सुलभीकरण भी किया गया। इसलिए, ऐसे शब्दों को संस्कृतोद्भव कहना अवैज्ञानिक होगा और भारतीय भाषाओं का इतिहास लिखते समय विद्वानों द्वारा इस पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है।

दूसरे, ऐसा भी एक विवाद है कि, संस्कृत 'शिष्टभाषा' थी और प्राकृत 'जनभाषा', किन्तु यह सत्य नहीं है। प्राकृत भाषाएं दीर्घकाल तक राजभाषा तो रही ही अपितु ग्रन्थभाषा के रूप में भी सुस्थापित रही। जैसा की हमनें पहले चर्चा की है, रामायण, महाभारत तथा कई अन्य प्राकृत ग्रन्थ संस्कृत के उदय के पश्चात संस्कृत में अनुवादित किए गए। हाल रचित 'गाथा सप्तशति' की काव्यरचना करनेवाले कोई ग्रामीण लोग नहीं, बल्कि स्वयं राजा हाल सातवाहन तथा उसके दरबारी कवियों का इस में सहभाग रहा हैं। चौथी शताब्दी में 'रावणवहो' (सेतुबंध) जैसा प्राकृत काव्य लिखनेवाला प्रवरसेन भी राजा था। ऐसे अनगिनत उदाहरण दिए जा सकते हैं। अभिजात साहित्य कहलानेवाले संस्कृत नाटकों में लगभग ६० से ९० प्रतिशत संवाद प्राकृत भाषा में हैं। इस कारण यदि उन्हें संस्कृत नाटक कहना हो तो वह केवल ऐसा कहने की प्रथा है इसलिए। 'बृहत्कथा' इस महाभारतसमान प्रदीर्घ कथाग्रन्थ का रचयिता गुणाद्य पैशाची भाषा में लिखनेवाला दरबारी कवी ही था। उच्च श्रेणि का साहित्य निर्माण हो सके इतना सामर्थ्य पैशाची भाषा में था। संस्कृत के चलन में आने के पश्चात भी प्राकृत भाषाओं में ग्रन्थनिर्मिती होती रही। इन भाषाओं में 'गउडवहो' तथा 'पउमचरिय' जैसे दीर्घकाव्य संस्कृत उसकी प्रसिद्धी की चरमसीमा पर थी तभी लिखे गए थे। इसका अर्थ ये भाषाएं केवल ग्रामीणों की भाषा नहीं थी। ग्रामीण प्राकृत के केवल अल्पांश नमूने ही आज हमें उपलब्ध हैं। उपलब्ध काव्य, नाटक तथा शिलालेखों में जो प्राकृत भाषा दिखाई देती है वही हमारी प्राचीन शिष्टभाषा थी। दरम्यान कुछ समय संस्कृत राजभाषा रही यह सत्य है किन्तु अपना यह स्थान वह कायम नहीं रख पाई। हमें इसका स्मरण रहे कि, आज भी हमारी राजभाषाएं प्राकृत ही हैं। संस्कृत की अपेक्षा प्राचीन प्राकृत साहित्य प्रचुर है और कई ग्रन्थ आज भी प्रसिद्धी की प्रतीक्षा कर रहे हैं। प्राकृत की एक शाखा के रूप में संस्कृत आगे आनेपर भी यदि प्राकृत ग्रन्थों की निर्मिती अखंडित रही तो इसका मुख्य कारण है प्राकृत जितने विपुल भाषाप्रयोग एवं व्याकरण में शिथितता थी, जिनका संस्कृत में अभाव था।

आज हमें उपलब्ध प्राकृत भाषाओं के लिखित ऐतिहासिक प्रमाण ईसापूर्व चार-सौ तक प्राचीन हैं। इन भाषाओं के तत्कालीन व्याकरण भी प्राप्त हुए हैं और दीर्घ काल से किए गए ग्रन्थलेखन के कारण इन भाषाओं द्वारा निर्मित समृद्ध साहित्य की एक परंपरा पाई जा सकती है। यदाकदा सिंधू संस्कृति की लिपि को विश्वसनीय रूप से पढ़ा जा सका, तो हम पुरा-प्राकृत का रूप भी देख पाएंगे। सिंधूकाल के कुछ ग्रामनाम आज भी अवशिष्ट होने की संभावना जतानेवाला एक वास्तव है। जैसे कालीबंगन एवं पीलीबंगन ये दो ग्रामनाम। यहां उत्खनन हुआ और सिंधू संस्कृति के अवशेषों का पता चला, उससे पहले से ही परंपरागत रूप से ये ग्रामनाम प्रचलित रहे हैं। सिंधू काल में, कालीबंगन में काले रंग की चूड़ियां बनाने का केन्द्र और पीलीबंगन में पीले रंग की चूड़िया बनने का केन्द्र था यह ज्ञात हुआ। इसी से ऐसा कहा जा सकता है कि, संभवतः ये दोनों नाम सिंधूकाल से प्रचलित हैं। प्राकृत में आज भी चूड़ियों को 'बंगन' कहा जाता है तथा 'काली' एवं 'पीली' ये रंगों के नाम सिंधूकालीन प्राकृत में भी प्रचलित थे ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है। सिंधूकाल के भौतिक जीवन के कई अंश कच्छ, राजस्थान, पंजाब, हरियाणा तथा सिंध में आज भी अवशिष्ट हैं। तत्कालीन धर्मकल्पनाएं संपूर्ण देश में प्रचलित थी इसके भी पुरातत्त्वीय प्रमाण देश के विभिन्न स्थानों से प्राप्त हुए हैं। इसलिए कहा जा सकता है कि, उस समय की भाषा भी समयानुसार बदलते हुए आज तक जीवित है। सिंधू घाटी के सिंधूकालीन नगरों के अवशेषों के निकट जो भी गांव या शहर हैं, उनके नाम भी प्राचीन काल से चलते आ रहे हैं ऐसा तर्क किया जा सकता है और इस दिशा में अभ्यास किया जा सकता है।

प्राकृत भाषाओं के प्रकार

उपलब्ध जानकारी के अनुसार विद्वानों ने प्राकृत भाषाओं का विभिन्न प्रकार से वर्गीकरण करने का प्रयास किया है। यह वर्गीकरण विभिन्न कसौटीयों के आधार से, प्राचीन वैयाकरणों ने जिन प्राकृत भाषाओं के व्याकरण लिखे हैं, या तत्कालीन लेखकों ने जिन प्राकृत भाषाओं का उल्लेख किया है तथा जिन भाषाओं के नमूने नाटक आदि साहित्य में पाए गए हैं, उनके आधार से किया गया है। उनमें मेल का अभाव है क्योंकि मुख्य प्राकृत भाषाओं की अनेक उपभाषाएं भी थीं और ऊपरिनिर्दिष्ट लोगों ने केवल उन्हें ज्ञात भाषाओं का ही उल्लेख किया है। इस में प्राच्य, अवंतिका, गौडी, लाटी, वाल्मिका आदि प्रादेशिक प्राकृत उपभाषाओं का उल्लेख है। प्राकृत भाषाएं प्रदेशनिहाय विशेषताओं के कारण उनमें भेद हैं किन्तु साथ ही कई समानताएं भी हैं। यही कारण है कि, मागधी का शौरसेनी के साथ और पाली का पैशाची भाषा के साथ संबंध जोड़ा जाता है। प्रत्येक प्रदेश की भूगर्भीय विशेषताओं का विचार करें तो वहां की भाषाओं में ये भेद तथा समानताएं स्वाभाविक कही जा सकती हैं। संभवतः इसीलिए आठवीं शताब्दी के एक महाकवी वाक्पतिराज ने अपने 'गुडवहो' इस महाकाव्य में लिखा है –

सयलाओ इम वाया विसंति एत्तो णेति वायाओ।
एति समुद्रं चिय णेति सायराओ च्छ्व जलाई॥ (९३)

अर्थात्, सभी नदियां समुद्र से जा कर मिलती हैं और समुद्र का जल जिस प्रकार बाष्प के रूप से निकल जाता है उसी प्रकार सभी भाषाएं प्राकृत भाषा में प्रविष्ट होती हैं और प्राकृत ही से सभी भाषाएं उत्पन्न होती हैं।

भरतमुनि के निर्देशानुसार नाटक के अधिकांश पात्र तथा नियाएं प्राकृत में ही संभाषण करते हैं किन्तु नाटक की प्राकृत भाषा कई स्थानों पर कृत्रिम है। इस प्रकार सभी प्राकृत भाषाओं में कुछ भेद किन्तु अधिकांश समानता होने के कारण एक प्राकृत भाषा जाननेवाले व्यक्ति को अन्य प्राकृत भाषाएं समझने में विशेष कठिनाई नहीं होती थी।

प्राकृत भाषाओं के व्याकरणकार

उत्तर भारत में वर्तमान भाषाओं में जो समानताएं हम देख सकते हैं वही प्राचीन काल में भी थी। सभी प्राकृत भाषाओं की वृत्ति समान होने के कारण प्राचीन वैयाकरणों ने प्रत्येक भाषा का स्वतन्त्र व्याकरण लिखना आवश्यक नहीं समझा और यदि वे लिखे भी गए हो, तो आज वे उपलब्ध नहीं हैं। केवल पाली भाषा ही स्वतन्त्र होने के कारण इसके कई व्याकरण लिखे गए, अन्य भाषाओं का व्याकरण एकत्रित रूप में ही लिखा गया पाया जाता है। उपलब्ध प्राकृत व्याकरणों में वररूचि लिखित 'प्राकृत प्रकाश' की भामह कृत समीक्षा है। वररूचि के ही व्याकरण की समीक्षा आगे चलकर कात्यायन (प्राकृत मंजरी), वसंतराज (प्राकृत संजीवनी), सदानंद (सुबोधिनी) आदि ने भी लिखी। इसके पश्चात का वैयाकरण है चंड। इसने 'प्राकृत लक्षण' नामक व्याकरण ग्रन्थ सिद्ध किया। जैन मुनि हेमचन्द्र ने 'सिद्ध हेमचन्द्र' व्याकरण लिखा। त्रिविक्रम ने 'प्राकृत व्याकरण' नामक ग्रन्थ लिखा जो कि, वाल्मीकी के सूत्रों का भाष्य था। प्रस्तुत वाल्मीकी की पहचान अज्ञात है। सिंहराज ने 'प्राकृत रूपावतार' इस व्याकरण ग्रन्थ की रचना की। किसी भरत नामक लेखक ने प्राकृत व्याकरण का एक ग्रन्थ लिखा था ऐसा उल्लेख मार्कण्डेय कवीन्द्र ने किया है किन्तु आज वह उपलब्ध नहीं है। इनके अतिरिक्त भी प्राकृत वैयाकरणों ने अपने कई पूर्ववर्ती प्राकृत व्याकरणकारों तथा उनके रचे ग्रन्थ एवं नियमों का उल्लेख किया है किन्तु वे आज उपलब्ध नहीं हैं।²

वररुची से पहले भी कई वैयाकरण विभिन्न प्रदेशों में हुए किन्तु उनके ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। किसी भी भाषा में जब ग्रन्थ रचाई शुरू होती है, तब उस भाषा का व्याकरण किसी ना किसी रूप में उपलब्ध होता है यह एक सर्वसाधारण नियम है। भारतीय लिपि एवं धर्म साहित्य में प्राकृत भाषाओं का कार्य व्यापक है। इन भाषाओं में जैन, बौद्ध, शैव-शाक्त, आगमिक एवं तान्त्रिक तथा अन्य प्रतिभाशाली साहित्यकारों ने श्रेष्ठ साहित्य की निर्मिती की है। यह ग्रन्थनिबद्ध भाषा जैसे शिष्टों की थी, वैसे ही कुछ पृथक और व्याकरण की दृष्टि शिथिल भाषाएं जनसामान्य भी बोलते थे अन्यथा समय-समय पर इतने व्याकरण ना लिखे जाते। वही शिथिल जनभाषाएं आज की भाषाओं की जननीयां सिद्ध हुई यह वास्तव जानना आवश्यक है। प्राचीन ग्रान्थिक और व्याकरणनिबद्ध प्राकृत भाषा जनसामान्य के लिए पुरानी होती गई और समयानुसार लोक व्यवहार की भाषा बदलती गई। इन्हीं बदलावों के साथ प्राकृत भाषाओं का प्रवाह सिंधू संस्कृति से आगे निरंतर बहता रहा।

पश्चिमी विद्वानों ने उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से प्राकृत भाषाओं के विवरण एवं व्याकरण के विषय में जो श्रम किए, वे अपरिमित हैं और इस कारण हमें उनका क्रृण मान्य करना होगा। विद्वानों द्वारा किए गए विभिन्न वर्गीकरण देखें तो प्राकृत भाषाओं के निम्न महत्वपूर्ण प्रकार पाए जाते हैं। भाषाओं के ये सभी प्रकार आजकी बोलीयों के पूर्व रूपों के साथ सुसंगत हैं। ये प्रकार ऐसे हैं –

१. मागधी
२. अर्धमागधी
३. पैशाची
४. पाली
५. शौरसेनी
६. माहाराष्ट्री
७. गान्धारी
८. प्रागतिक प्राकृत या अपभ्रंश

यहां इन भाषाओं का इतिहास, उनकी स्वतन्त्र विशेषताएं तथा उनके साहित्य का संक्षेप में पुनरावलोकन उचित होगा।

मागधी

भगवान बुद्ध की सीख यद्यपि पाली भाषा में ग्रन्थबद्ध हुई है, त्रिपिटकों के अनुसार उनकी उपदेश की भाषा मागधी (प्राकृत नाम मघइ) थी। इस कारण कुछ समय तक ऐसा माना जा रहा थी कि, पाली और मागधी भाषा संभवतः एक ही हैं किन्तु यह सत्य नहीं है। सम्राट अशोक के कुछ लेख मागधी भाषा में हैं जिन में खालसी, मेरठ, लौरिया, सहस्राम, बराबर, रामगढ़, धौली एवं जौगढ़ यहां के शिलालेख मागधी के तत्कालीन रूप दर्शाते हैं। वररुची से चण्ड तक वैयाकरणों ने मागधी प्राकृत के लक्षण अभिलेखित किए हैं। मगध प्रांत की भाषा होने के कारण इस भाषा को मागधी कहा जाता है। वहां की राजभाषा होने के कारण उसका प्रचार भी बहुत हुआ। मागधी में स्थानानुसार विभिन्न विशेषताएं देखी जा सकती हैं किन्तु इसका मुख्य केन्द्र दक्षिण बिहार है। मागधी की कई उपभाषाएं भी हैं और आज की बंगाली भाषा की पूर्ववर्ती भाषा गौड़ प्राकृत भी उन्हीं में से एक है। इसापूर्व तीसरी शताब्दी के महास्थान (प्राचीन नाम पुंड्रनगर) स्थित शिलालेख में गौड़ प्राकृत भाषा का प्रयोग किया गया है।^३ असमी तथा उड़िया भाषाओं पर भी मागधी भाषा का कुछ प्रभाव है।

मागधी भाषा का स्वतन्त्र साहित्य आज उपलब्ध नहीं है किन्तु संस्कृत नाटकों में कुछ संभाषणों में मागधी का प्रयोग किया गया है। नाटक के कौन-से पात्र मागधी का प्रयोग करते थे इस संबंध में संस्कृत अलंकारशास्त्र के वैयाकरणों में मतभेद पाया जाता है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के अनुसार अश्वरक्षक, अंतःपुरवासी तथा किसी आपत्ति में घिरा नायक इस भाषा का प्रयोग करता है। अपने ‘प्राकृत सर्वस्व’ में मार्कण्डेय ने जिस कोहल का मत उधृत किया है, उसके अनुसार राक्षस, भिक्षु, क्षपणक (जैन यति) तथा चेट (नौकर, दास) आदि पात्र इस भाषा का प्रयोग करते हैं। ‘प्राकृत प्रकाश’ इस व्याकरण ग्रन्थ में वररूची ने मागधी का व्याकरण भी लिखा है। नाटकों की प्राकृत भाषा प्रायः कृत्रिम थी और संभवतः उनके लेखकों को इस भाषा का पर्याप्त ज्ञान नहीं था। केवल सोमदेव रचित ‘ललित विग्रहराज’ इस नाटक में जिस मागधी का प्रयोग किया गया है वह अधिक व्याकरणिनिबद्ध है। शौरसेनी तथा मागधी की ध्वनिप्रक्रिया लगभग समान है। मागधी, अर्धमागधी तथा शौरसेनी भाषाएँ आज की विभिन्न हिन्दी बोलीयों की जनक हैं। सामान्य रूप से हिन्दी भाषक क्षेत्र के विशाल होने के पीछे यह भी महत्वपूर्ण कारण है। आज के बिहार की प्रादेशिक हिन्दी भाषा मागधी ही का आधुनिक रूप है।

अर्धमागधी

मगध राज्य के पश्चिमी भाग में व्याप्त भाषा को अर्धमागधी कहते हैं। स्वाभाविक रूप से मागधी, अर्धमागधी तथा पश्चिम के निकट प्रचलित शौरसेनी भाषा इन में बहुत सी समानताएँ हैं। आज बिहार तथा उत्तर प्रदेश में बोली जानेवाली हिन्दी पर अर्धमागधी का प्रभाव है। भगवान महावीर ने इसी भाषा में अपना धर्मोपदेश किया था। श्वेताम्बर जैनों का अधिकांश साहित्य इसी भाषा में है। इस भाषा का प्राचीन वाङ्मय, जैसे ‘उच्चारांग’ आदि सुन्त ग्रन्थों की रचना भगवान महावीर के समकालीन गणधर श्री सुधर्म स्वामी ने की थी। स्वयं भगवान महावीर ने अर्धमागधी भाषा श्रेष्ठ होने का मत व्यक्त कर उसका गौरव किया था। अर्धमागधी में शब्दबाहुल्य विपुल होने के कारण अर्थव्याप्ति तथा गहनता के संबंध में यह भाषा बहुत प्रगत थी। इस भाषा में लिखा गया जैन ग्रन्थसंभार विशाल एवं वैविध्यपूर्ण है। निम्न जानकारी मराठी विश्वकोश से प्राप्त की गई है।

अर्धमागधी साहित्य

अर्धमागधी साहित्य में श्वेताम्बर जैनों के पैंतालीस आगम-ग्रन्थों का अंतर्भाव होता है। इन में बारह अंग-ग्रन्थों की रचना भगवान महावीर के गणधरों द्वारा की गई है और अन्य आगम-ग्रन्थ श्रुतज्ञानी तथा दशपूर्वी स्थविरों द्वारा रचे गए हैं। महावीर के निर्वाण के ९८० वर्षों पश्चात वल्लभी यहां देवद्विगणी की अध्यक्षता में भगवान महावीर के धर्मोपदेश को लेखननिषिट किया गया। उसके पूर्वकाल में यह धर्मोपदेश गुरु-शिष्य परम्परा के माध्यम से मुख्यपाठ द्वारा संक्रमित होता आया था। दिग्म्बरपंथीय लोग इन आगम-ग्रन्थों को प्रमाण नहीं मानते।

श्वेताम्बरपंथीयों की मान्यता के अनुसार प्रथम तीर्थकर के समय से केवल दो प्रकार के आगम-ग्रन्थ थे – चौदह पूर्वग्रन्थ तथा ग्यारह अंग-ग्रन्थ। इन में चौदह पूर्वग्रन्थ कुछ समय पश्चात दिट्ठिवाय (दृष्टिवाद) नामक बारहवें अंग-ग्रन्थ में समाविष्ट किए गए। भगवान महावीर के पश्चात इस चौदह पूर्वग्रन्थों का ज्ञान स्थूलभद्र नामक आठवें आचार्य तक चलता आया था किन्तु वज्र तक के सात अगले आचार्यों को केवल दस पूर्वग्रन्थों का ज्ञान था। इसके पश्चात धीरे-धीरे यह ज्ञान कम होता गया और वल्लभीवाचन के समय तक वह पूर्ण रूप से लुप्त हो गया और इस प्रकार, बारहवा अंग-ग्रन्थ नष्ट हो गया।

वल्लभी वाचना के समय तैयार किए गए ग्रन्थों की पांडुलिपियां समय के साथ विकृत और कुछ नष्ट भी हो गई। इसका अनुमान नंदीसूत्र से लगाया जा सकता है। यद्यपि आज केवल पैतालीस आगम-ग्रन्थ उपलब्ध हैं, नंदीसूत्र में अठहत्तर आगम-ग्रन्थों की जानकारी प्राप्त होती है। आगम-ग्रन्थों में सब से प्राचीन ग्यारह अंग-ग्रन्थों की अर्धमार्गधी में माहाराष्ट्री के रूप भी पाए जाते हैं।

नंदीसूत्र के अनुसार कुल १२ अंगप्रविष्ट और ६६ अंगबाह्य ग्रन्थ हैं। अंगबाह्य ग्रन्थ तीन विभागों में बंटे हैं, ६ आवश्यक, ३१ कालिक तथा २९ उत्कालिक। उपलब्ध ४५ आगम-ग्रन्थों में ११ अंग-ग्रन्थ, १२ उपांग-ग्रन्थ, १० प्रकीर्णक, ६ छेदसूत्र, ४ मूलसूत्र तथा २ वर्गनामहीन ग्रन्थ हैं। ये आग्रम ग्रन्थ भिन्नकर्तृक एवं भिन्नकालीन हैं और गद्य, पद्य तथा गद्य-पद्य मिश्र प्रकार के हैं। कुछ ग्रन्थों में पृथक लेखों का संकलन पाया जाता है, कुछ में विस्तार और पुनरावृत्ति, तथा कुछ में संक्षिप्त कथन हैं। साम्रदायिक विषयों के व्यवस्थित निरूपण भी कुछ में पाए जाते हैं। इन ग्रन्थों का जोर साधू एवं साधीयों का आचार-धर्म बताने पर है।

आगम ग्रन्थों पर प्राकृत एवं संस्कृत में भी टीकाएं लिखी गई हैं। प्राकृत समीक्षा ग्रन्थों में निजुक्ति (निर्युक्ति), भाष्य तथा चुणिण (चूणी) ऐसे तीन प्रकार पाए जाते हैं। पहले दो प्रकार पद्य तथा तीसरा गद्य में है। आधुनिक विद्वानों के अनुसार भद्रबाहू (ईसापूर्व ३२२ के आसपास) ने निर्युक्ति श्रुतकेवली रची हैं और उन्हें उनका आज का रूप भद्रबाहू द्वितीय (छठीं शताब्दी) ने प्रदान किया। इसमें उन्होंने जैन दर्शन की भूमिका को स्थिर किया। जिनभद्र (सातवीं शताब्दी) ने 'विशेषावश्यक भाष्य' में तब तक की दार्शनिक चर्चा के सारे ही विषयों का परामर्श लिया है। संघदास (सातवीं शताब्दी) के 'बृहत्कल्प भाष्य' में साधुओं के आहार-विहार के दार्शनिक पद्धति की चर्चा की गई है। उपलब्ध भाष्यग्रन्थों की संख्या दस है और चूणिणग्रन्थ अट्ठारह हैं। जिनदास महत्तर (सातवीं-आठवीं शताब्दी) द्वारा लिखित चूणी में सभी भाष्यविषय संक्षिप्त रूप में पाए जाते हैं। हरिभद्र (आठवीं शताब्दी), शीलांकसूरी (दसवीं शताब्दी), शांत्याचार्य, अभय देव (ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी), मलधारी हेमचन्द्र तथा आचार्य मलयगिरी (बारहवीं शताब्दी) इन सभी विद्वानों ने आगम ग्रन्थों पर संस्कृत समीक्षाएं लिखी हैं। इन में सब से प्राचीन समीक्षा हरिभद्र की है और मलयगिरी द्वारा लिखित समीक्षा सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। आगम ग्रन्थ सुलभ रूप से समझने के लिए प्राचीन गुजराती भाषा में 'बालावबोध' टीकाएं लिखी गईं, जिन्हें 'टबा' के नाम से भी जाना जाता है।

अंग-ग्रन्थ

१. आयारंग (आचारांग) – यह अंग-ग्रन्थों में सबसे पहला तथा आत्यंतिक प्राचीन आगम ग्रन्थ है। इसे 'सामायिक' भी कहा जाता है। इस ग्रन्थ में साधू-साधीयों के लिए आचार संबंधी उपदेश है। इस में श्रुतस्कंध हैं तथा पहला श्रुतस्कंध ईसापूर्व तीसरी शताब्दी में लिखा गया है, जो गद्य-पद्य मिश्र शैली में लिखा गया है। इसी में भगवान महावीर का चरित्र भी पाया जाता है।

२. सूयगडंग (सूत्रकृतांग) – इसे 'सूचाकृतांग' भी कहा जाता है। यह ग्रन्थ पद्य है और इसका परिशिष्टसदृश भाग आगे चलक जोड़ा गया प्रतीत होता है। नवदीक्षित साधू को मार्गदर्श करना इस ग्रन्थ का प्रमुख उद्देश्य है। इस में भूतवाद, ब्रह्मवाद, तत्कालीन क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद तथा अज्ञानवाद इनका खण्डन किया गया है। आत्मा का पृथक् अस्तित्व, नानात्मवाद एवं कर्मवाद का भी विवेचन तथा समर्थन इस ग्रन्थ में पाया जाता है। न्यियों के मोहजाल में फंसे पुरुष तथा नर्क में दिए जानेवाले दंड इनके वर्णन यहां उपस्थित हैं।

३. थानांग (स्थानांग) – इस सूत्र में स्थान के यानी संख्या के क्रमानुसार लोगों में प्रचलित एक से दस तक वस्तुओं की परिणामना पाई जाती है। लुप्त हो चुके दिट्ठिवाया के विषय भी इसमें उल्लेखित हैं।

४. समवायांग – इस सूत्र में स्थानांग के समान १ से १०,००,००,००,००,००,००० वस्तुओं की परिणामना पाई जाती है।

५. भगवई वियाहपण्णति (भगवती व्याख्याप्रज्ञसि) – इस ग्रन्थ में ज्ञेय पदार्थों की परिभाषाओं का निरूपण होने के कारण इसे ह्यासविहायपण्णति वियाह या व्याख्याप्रज्ञसि का नाम प्राप्त है। ‘भगवई’ यह विशेषण पूज्यभाव निर्देशक है। इस सूत्र में ४१ शतक (प्रकरण) हैं और प्रत्येक शतक में उद्देशक अथवा वर्ग हैं। भगवान् महावीर ने विभिन्न प्रश्नों के दिए उत्तर इस ग्रन्थ में संग्रहित किए गए हैं। इससे महावीर के व्यक्तित्व का दर्शन होता है।

६. णायाधम्मकहाओ (ज्ञातृधर्मकथा) – इस आगम ग्रन्थ के शीर्षक का अर्थ विवादित है। इसमें दो श्रुतस्कंध हैं। पहले श्रुतस्कंध में १९ अध्ययन तथा प्रत्येक अध्ययन में एक कथा है। इन कथाओं में दृष्टान्त दिए गए हैं। दूसरे श्रुतस्कंध में एक ही धर्म कथा के विवरणात्मक बदल करते हुए २०६ रूपांतर दिए गए हैं।

७. उवासगदसाओ (उपासक दशा) – इसके दस अध्यायों में श्रावक के धर्म का निरूपण किया गया है। इस में श्रावक धर्म का कथारूप विवेचन है और ये कथाएं एक-सी प्रतीत होती हैं।

८. अंतगडदसाओ (अंतःकृदशा) – संसारत्याग कर चुके कई धर्मशील साधू-साध्वीयों के जीवन इसमें वर्णन किए गए हैं। द्वारका के कृष्णवसुदेव के जीवन की कुछ घटनाओं का वर्णन भी इसमें सम्मिलित है।

९. अणुत्तरोवाइयदसाओ (अनुत्तरौपपातिक) – स्वर्ग में उच्चतम स्थान प्राप्त धर्मशील साधुओं का वर्णन इस ग्रन्थ में पाया जाता है।

१०. पण्हवागरण (प्रश्न व्याकरण) – इसमें प्रश्नोत्तर नहीं हैं। अभी उपलब्ध ग्रन्थ मूल ग्रन्थ न हो कर किसी ने पश्चात समय किन्तु बारहवीं शताब्दी से पूर्व रचा हुआ प्रतीत होता है। हिंसादि पांच आस्त्रव तथा अहिंसादि पांच संवरों का विवेचन इसमें प्रमुख रूप से पाया जाता है।

११. विवागसुय (विपाक सूत्र) – स्वर्कर्म के शुभ या अशुभ फल भोगनेवाले व्यक्तियों की कथाएं इस ग्रन्थ में दी गई हैं।

१२. दिट्ठिवाय (दृष्टिवाद) – इस नष्ट हो चुके ग्रन्थ में संभवतः विभिन्न सम्प्रदायों के मत वर्णन किए गए थे। अन्य ग्रन्थों के आधार से ऐसा प्रतीत होता है कि, इस अंग-ग्रन्थ को पांच भागों में विभाजिक किया गया था – १. परिकर्मणि, २. सूत्राणि, ३. पूर्वगतम्, ४. अनुयोग एवं ५. चूलिका।

उपांग ग्रन्थ

प्रत्येक अंग का एक उपांग होता है, ऐसी एक पारंपरिक धारणा है। गणधरों ने अंग-ग्रन्थ रचे तो स्थविरों ने उपांग ग्रन्थ लिखे।

१. ओववाइय/उववाइय (औपपातिक) – इसे औपपादिक भी कहा जाता है। देव के रूप में जन्म, नैरयिक (नर्कवासी) के रूप में जन्म, सिद्धिगमन आदि उपपात (उपपाद) संबंधी सूत्र इस ग्रन्थ में पाए जाते हैं। इन में से अधिकांश वर्णन नाम बदलकर आगम ग्रन्थों में समाविष्ट किए पाए जाते हैं। पहले भाग में भगवान् महावीर ने कूणिका को दिया निर्ग्रथ प्रवचन और दूसरे भाग में इन्द्रभूती द्वारा गौतम को कथित उपपातों के वर्णन हैं।

२. रायपसेणइय (राजप्रश्नीय) – एक जीव अनेक जन्मों के पश्चात कैसे मोक्ष प्राप्त करता है, इसका वर्णन प्रस्तुत उपांग में है। इस का प्रदेशी राजा तथा केशी कुमारश्रमण के बीच हुआ आत्मासंबंधी संभाषण महत्वपूर्ण है।

३. **जीवाजीवभिगम या जीवभिगम** – इसमें गौतम तथा महावीर इनके बीच हुए प्रश्नोत्तर दिए गए हैं जिनमें जीव-अजीव भेद-प्रभेग के तथा सागर, द्वीप आदि के वर्णन हैं।
४. **पञ्चवणा (प्रज्ञापना)** – इस ग्रन्थ का कर्ता आर्यश्याम स्थविर है। इस ग्रन्थ में भी गौतम तथा महावीर के प्रश्नोत्तर के रूप में छत्तीस पद या विषयों के तथा आर्य एवं म्लेच्छ जातियों के वर्णन पाए जाते हैं।
५. **सूरपञ्चति (सूर्यप्रज्ञसि)** – इस ग्रन्थ में सूर्य, चन्द्र तथा नक्षत्रों की गती का वर्णन है।
६. **जंबुद्वीवपञ्चति (जंबुद्वीपप्रज्ञसि)** – इस ग्रन्थ में जैन मत के अनुसार भूगोल वर्णन है, जो पौराणिक प्रकार का दिखाई देता है।
७. **चंदपञ्चति (चंद्रप्रज्ञसि)** – इस ग्रन्थ में चन्द्र के परिभ्रमण का वर्णन है और यही विषय सूर्यप्रज्ञसि में भी समाविष्ट है।

आठ से बारह ये पांच उपांग निरयावलिसुत्त (निरयावलि सूत्र) में एकसाथ ही दिए जाते हैं। ये उपांग ऐसे हैं –

८. **निरयावलियाओ (नकों की श्रेणि)** – प्रस्तुत उपांग में कूणिका की कथा विस्तारपूर्वक कथन की गई है। इस उपांग को कप्पिया (कल्पिका) भी कहा जाता है।
९. **कप्पवडिंसियाओ (कल्पावतंसिका)** – प्रस्तुत उपांग में श्रेणिक राजा के दस पौत्र श्रमण जीवन स्वीकार कर मृत्योपरान्त विभिन्न स्वर्गों को कैसे प्राप्त हुए इसका वर्णन दिया है।
१०. **पुष्पिया (पुष्पिका)** – प्रस्तुत ग्रन्थ में स्वर्ग की दस देवदेवताओं के पूर्वजन्म का वृत्तान्त भगवान महावीर ने गौतम को कथन किया है।
११. **पुष्पचूलियाओ (पुष्पचूड़ा)** – इस में पुष्पिका की कथाओं के समान ही कथाएं हैं और उन्हें सांकेतिक शब्दों से सूचित किया गया है।
१२. **वण्हिदसाओ (वृष्णिदशा)** – इस में अरिष्टनेमि द्वारा वृष्णिवंशीय बारह पुत्रों को दी गई दीक्षा का वर्णन है। अरिष्टनेमि तथा कृष्ण-वासुदेव की भेंट का वृत्तान्त भी इस में पाया जाता है।

प्रकीर्णक

तीर्थकरों के उपदेश के आधार से श्रमणों ने इनकी रचना की है। इनकी संख्या बहुत अधिक है किन्तु साधारण रूप से केवल दस प्रकीर्णक महत्वपूर्ण माने जाते हैं। वे इस प्रकार हैं –

१. **चउसरण (चतुःशरण)** – इसमें ६३ गाथाएं हैं और अर्हत्, सिद्ध, साधू तथा जिनधर्म इन चार को शरणीय माना गया है। इस प्रकीर्णक का कर्ता संभवतः वीरभद्र है।
२. **भक्तपरिन्ना (भक्त परिज्ञा)** – इस प्रकीर्णक में १७२ गाथाएं हैं, जिन में भक्त के त्याग के संबंध में प्रतिपादन है। इस प्रकीर्णक का कर्ता भी संभवतः वीरभद्र ही है।
३. **सन्थार (सन्त्तार)** – इसमें १२३ गाथाएं हैं और अंतसमय में मुनि ध्यानधारणा किस तरह करता है, इसका निरूपण है।

४. आउरपञ्चक्खाण (आतुरप्रत्याख्यान) – इसकी ७० गाथाओं में बाल मरण तथा पंडित मरण का विवेचन किया गया है। आतुर (रोगी) साधू द्वारा उपभोग-परिभोग की वस्तुओं का त्याग किया जाना आवश्यक है इस तत्त्व को इस में मुख्य रूप से बताया गया है।

५. महापञ्चक्खाण (महाप्रत्याख्यान) – इस प्रकीर्णक में कुल १४२ गाथाएँ हैं जिन में एकत्व भाव, संसारपरिभ्रमण, पंडित मरण, पांच महाव्रत तथा दुष्कृतनिंदा आदि विषयों पर निरूपण दिया गया है।

६. तन्दुलवेयालिय (तन्दुलवैचारिक) – इस में ५८६ गाथाएँ तथा भगवान् महावीर और गौतम के बीच हुए प्रश्नोत्तर हैं। इन में गर्भ काल, गर्भावस्था का आहार, जीव की दस दशाएँ, काल विभाग, शरीर वर्णन और स्त्री-स्वभाव के निरूपण हैं। शतायू व्यक्ति एक सौ वर्ष में कितना चावल खाता है, इस विचार से संभवतः प्रस्तुत प्रकीर्णक का शीर्षक दिया गया है।

७. चन्द्रवेज्जय (चन्द्रक वेद्यक) – इसकी १७४ गाथाओं में गुरु-शिष्य गुण तथा विनय का स्वरूप आदि वर्णन पाए जाते हैं।

८. देविन्दत्थय (देवेन्द्रस्तव) – इस प्रकीर्णक में ३०२ गाथाएँ हैं और उनमें भवनवासी, व्यानमन्तर, ज्योतिषिक तथा वैमानिक इन देवेन्द्रों की जानकारी दी गई है।

९. गणविज्ञा (गणिविद्या) – इस प्रकीर्णक की ८२ गाथाओं में तिथी, नक्षत्र, शगुन बल इत्यादि ज्योतिष शास्त्र संबंधी जानकारी दी गई है।

१०. वीरत्थय (वीरस्तव) – इसमें ४२ गाथाएँ हैं, जिनमें भगवान् महावीर के विभिन्न नामों की शृंखला दी गई है।

इसके अतिरिक्त कुछ स्थानों पर सातवां या आठवां प्रकीर्णक के रूप में गच्छायार (गच्छाचार) का उल्लेख किया गया है। इस प्रकीर्णक में साधू-साध्वी के आचरण का वर्णन किया गया है। मरणसमाही (मरण समाधि) इस दशम प्रकीर्णक का भी उल्लेख कहीं-कहीं है। इस में ६६३ गाथाएँ हैं जिन में समाधि युक्त मृत्यु, आचार्य गुण, अनशन तप, ज्ञान महिमा, संलेखना तथा बारह भावनाएँ आदि का विवेचन पाया जाता है। तिथोगाली (तीर्थोद्धार) और आराहणापडागा (आराधनापताका) आदि ग्रन्थों को भी प्रकीर्णक ही माना गया है।

छेदसूत्र

छेद यानी अपराधी। जैन साधू-साध्वीयों के आचार भंग के प्रायश्चित्त एवं शासन के विषय में प्रतिपादन प्रस्तुत सूत्र में दिया गया है। निम्न छेदसूत्रों में अनुक्रमांक तीन से पांच इन सूत्रों का एक श्रुतसंक्षेप बनता है, जिसे दसाक्षणवहार कहा गया है।

१. निसीह (निशिथ) – यह छेदसूत्र आचारांग का ही भाग माना जाता था। इसका लेखक अब तक ज्ञात नहीं है। इसमें साधू-साध्वीयों के आचारविचार संबंध उत्सर्ग तथा अपवाद विधियों का वर्णन है। यह विषय गोपनीय माना जाता है।

२. महानिसीह (महानिशिथ) - इसे छठा छेदसूत्र भी माना जाता है। पश्चात्ताप, तप, कर्म सिद्धान्त, प्राणि के सुख-दुःख, व्रतभंग का पाप, साधुओं का आचार तथा कुछ कथाओं का निरूपण इसमें पाया जाता है।

३. ववहार (व्यवहार) – इस सूत्र को बारह अंगों का नवनीत माना जाता है। श्रुतकेवली भद्रबाहू इसका कर्ता है। जैन साधू-साध्वीयों के कार्य – अकार्य, प्रायश्चित्त तथा नवदीक्षित साधुओं के बीस वर्ष के पाठ्यक्रम का वर्णन इसमें किया गया है।

४. दसाओ (दशाश्रुतस्कंध) – आयारदसाओ इस नाम से भी इसे जाना जाता है। इसमें असमाधि के बीस कारण, मुनियों के उत्साह भंग के इक्कीस कारण, आशातन के तेईस प्रकार, उपासक की ग्यारह तथा भिक्षु की बारह प्रतिमाएं, नौ प्रकार के निदान और महावीर चरित्र ये विषय समाविष्ट हैं।

५. पञ्जोसणाकप्प (पर्युषणकल्प सूत्र) – दसाओ का आठवां अध्याय यानी प्रस्तुत छेदसूत्र है। इसके ‘जिनचरित’, ‘स्थविरावलि’ तथा ‘सामाचारी’ ऐसे तीन विभाग हैं। पहले भाग में भगवान महावीर का काव्यात्म, किन्तु अतिशयोक्तिपूर्ण चरित्र है, दूसरे भाग में गणों की शाखाएं, सूचियां तथा गणधरों की जानकारी दी गई है और तीसरे विभाग में साधुओं के लिए नियम पाए जाते हैं। पर्युषण पर्व में साधू इस सूत्र का पठण करते हैं। इस सूत्र का कर्ता भद्रबाहू माना जाता है किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इस छेदसूत्र के तीनों भाग उसी की रचना है यह असंभवनीय प्रतीत होता है।

६. कप्प (कल्प) – इसेही ‘बृहत्कल्प सूत्र’ भी कहा जाता है। जैन साधू-साध्वीयों के संयम के लिए पोषक या बाधक सिद्ध होनेवाली आहारादि अनेक बातें और प्रायश्चित्तों का विवेचन इसमें पाया जाता है।

इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं जीयकप्पसुत्त (जीतकल्प सूत्र) को छठा छेदसूत्र माना गया पाया जाता है। इसमें १०३ गाथाएं हैं जिनमें प्रायश्चित्तमाहात्म्य का वर्णन तथा दस प्रायश्चित्तों का विवेचन पाया जाता है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण को इसका कर्ता माना जाता है।

मूलसूत्र

इन सूत्रों में भगवान महावीर के वचन हैं। श्रामण्य के प्रारंभकाल में ये वचन उपयुक्त हैं। साधूजीवन के मूलभूत नियमों का समावेश हैं इसीलिए इन्हें मूलसूत्र कहा जाता है।

१. उत्तरज्ञयण (उत्तराध्ययन) – ईसापूर्व दूसरी या तीसरी शताब्दी में इन सूत्रों की रचना की गई। धर्म काव्य के रूप में ये महत्वपूर्ण हैं। इन में भगवान महावीर ने अपने अंत काल में गौतम से निरूपण किए छत्तीस प्रश्नों के उत्तर हैं। श्रमण धर्म तथा जैन सिद्धान्त इन तथा इन जैसे कई विषयों का विवेचन इन में पाया जाता है। इसकी रचना मुख्य रूप से पद्य में की गई है।

२. आवस्सय या आवस्सयनिज्जुति (आवश्यक निर्युक्ति) – नित्यकर्मों की छह आवश्यक बातों का निरूपण इन में किया गया है। इन में सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव (चौबीस तीर्थकरों का स्तवन), प्रतिक्रमण या पश्चात्ताप, कायोत्सर्ग यानी ध्यानधारणा में शरीर को निश्चल रखना, प्रत्याख्यान यानी पापकर्मों से निवृत्ति आदि का समावेश होता है।

३. दसवेयालिय (दश वैकालिक) – ईसापूर्व ३७९ में शश्यंभव ने अपने पुत्र के लिए इसकी रचना की। इस में दस अध्ययन और दो चूलिकाएं हैं और आदर्श साधूजीवन का वर्णन किया गया है।

४. पिंडनिज्जुक्ति (पिण्ड निर्युक्ति) – इस में ६७१ गाथाएं हैं और इनका कर्ता भद्रबाहू है। दश वैकालिक के पांचवे अध्ययन पर की गई यह स्वतन्त्र तथा विस्तृत निर्युक्ति है। साधुओं के आहारविधियों का वर्णन इस में किया गया है।

वर्गनामरहित चूलिकासूत्र

इन सूत्रों में नंदी तथा अणुओगदार ये सूत्र हैं।

१. नंदी – इस सूत्र का रचयिता संभवतः दूष्यगणि का शिष्य देववाचक था। कुछ विद्वानों का देववाचक ही देवद्विंशिंगणी क्षमाश्रमण है यह मत स्वीकारा जाए तो इस सूत्र की रचना पांचवीं शताब्दी में हुई होगी। इसमें गद्य-पद्य रचना है और आगम ग्रन्थों की जानकारी दी गई है। जैनों की दृष्टि से ज्ञान स्वरूप तथा भेद-प्रभेदों का विवेचन यहां पाया जाता है। जैन धर्म की ऐतिहासिक जानकारी भी इस में दी गई है और इसीलिए इस सूत्र को आत्यंतिक महत्वपूर्ण माना जाता है।
२. अणुओगदार (अनुयोगद्वारा) - अनुयोग यानी परीक्षण और इसके द्वारा नाम, स्थापना, द्रव्य एवं भाव हैं। इन द्वारों के वर्णन के साथ ही जैनधर्मियों के लिए आवश्यक सभी धार्मिक एवं अन्य विषयों की जानकारी इस सूत्र में दी गई है। यह सूत्र विस्तृत तथा प्रायः गद्य शैली में लिखा गया है।

पैशाची भाषा

यह प्राकृत भाषा कैकय, पांचाल तथा वायव्य भारत के पहाड़ी प्रदेशों में बोली जानेवाली भाषा है। ग्रियर्सन के मतानुसार संभवतः वायव्य पंजाब इस भाषा का मूल स्थान है। ‘पिशाच’ नामक कोई आदिम मानव समूह किसी समय भारत में बसता था। कश्मीर के मूल निवासीयों को भी नाग तथा पिशाच के नाम से संबोधित किया गया है। कश्मीरी भाषा ‘कशुर’ का मूल भी पैशाची भाषा में होना संभव है। इसके अतिरिक्त, आज हम पिशाच शब्द का जो अर्थ समझते हैं, वह उसका मूल अर्थ नहीं था या इन लोगों के प्रति घृणा के कारण अन्य भाषकों ने इन्हें यह नाम प्रदान किया ऐसा भी संभव है। महाभारत में मद्र-सिंधू-सौविर लोगों को ‘बाह्यिक’ कहा गया है तथा उन लोगों के प्रति द्वेष व्यक्त किया गया है। यद्यपि महाभारत के अनुसार पंजाब में बिपाशा नदी के परिसर में वाही एवं द्विक नामक दो राधस रहा करते थे और इसी कारण वहां के लोगों को ‘बाह्यिक’ नाम प्राप्त हुआ है, यह भी कहा जाता है कि, यह प्रदेश और यहां के लोगों को ‘बाहरी’ माने जाने के कारण उन्हें बाह्यिक कहा गया है। पाणिनी भी पंजाबी लोगों का उल्लेख ‘बाह्यिक’ नाम से ही करता है। संभव है, यहां की भाषा को इसी घृणा के कारण पैशाची का नाम दिया गया। इस भाग में वैदिक धर्म तथा वैदिक लोगों की समाज रचना को मान्यता न दिए जाने के कारण इस भाग के प्रति घृणा थी, ऐसा शल्य पर्व से प्रतीत होता है। (‘बाह्यिक’ और ‘बाल्हिक’ ये दो शब्द कई बार समान मानकर उनका प्रयोग किया जाता है किन्तु यह उचित नहीं है, ‘बाल्हिक’ शब्द बल्ख प्रांत का निर्देशक है और इसका पंजाब के लोगों के साथ कोई संबंध नहीं है।)

दण्डी ने अपने ‘काव्यादर्श’ में पैशाची भाषा को भूतभाषा भी कहा है। ‘षड्भाषाचन्द्रिका’ ग्रन्थ में कैकेय, बाह्यिक, गांधारादि प्रदेशों को पिशाच देश कहा गया है। ग्रियर्सन के अनुसार भारत की वायव्य सीमापर स्थित दर्दिस्तान, चित्राल आदि प्रदेश पिशाच लोगों के प्रदेश थे और पैशाची का मूल प्रदेश यही है, जहां से इस भाषा को बोलनेवाले लोग अन्यत्र विस्थापित हुए। वररूची ने अपने ‘प्राकृत प्रकाश’ इस व्याकरण ग्रन्थ में (ईसापूर्व दूसरी शताब्दी) लिखा है कि, पैशाची प्राकृत भाषा का जन्म संभवतः शौरसेनी भाषा से हुआ है। ध्यान रहे, प्राकृत भाषा समुदाय में जैविक साधर्म्य होने के कारण किसी भी प्राकृत भाषा का पौर्वपौर्य निश्चित करना असंभव है। मार्कण्डेय के ‘प्राकृत सर्वस्व’ ग्रन्थ से पता चलता है कि, कैकेय पैशाची भी पैशाची की उपभाषा थी। प्रदेश निहाय पैशाची भाषा के कई उप-प्रकार थे, जैसे शौरसेनी पैशाची, पांचाल पैशाची, शावर पैशाची आदि, किन्तु उन में कोई विशेष अंतर नहीं था।

इस भाषा में लिखा गया गुणाद्य कृत ‘बृहत्कथा’ (बड़कहा) यह प्राचीन कथा ग्रन्थ है, जिसकी कथाओं का प्रभाव आज भी न केवल भारतीय अपितु वैश्विक साहित्य पर दिखाई देता है। इस ग्रन्थ की तुलना महाभारत

के साथ की जाती है। ग्यारहवीं शताब्दी तक यह मूल ग्रन्थ संभवतः उपलब्ध था किन्तु इसी शताब्दी में इसका संस्कृत में अनुवाद किया गया और इसके पश्चात मूल ग्रन्थ अदृष्ट हो गया। रामायण-महाभारतादि कई प्राचीन प्राकृत के मूल ग्रन्थ इसी प्रकार लुप्त हो चुके हैं। तेरहवीं शताब्दी के तिब्बती इतिहासकार बुटोन रिंचेन ड्रब ने लिखा है कि, स्थिरवादीन बौद्धों ने पैशाची भाषा का उपयोग किया था।⁴

मध्य आशिया, खोतान, चिनी तुर्कस्थान, वायव्य सीमा प्रांत और पंजाब में प्राप्त खरोष्ठी लिपि के शिलालेखों की गान्धारी भाषा में इस भाषा के कुछ लक्षण पाए जाते हैं। प्राकृत व्याकरण ग्रन्थों तथा नाटकों में भी इस भाषा का कुछ प्रयोग पाया जाता है किन्तु ये प्रयोग पैशाची भाषा से प्रामाणिक नहीं हैं। पैशाची भाषा की आज की वंशज भाषाएं यानी पंजाब की लहंदा और पंजाबी, तथा ब्राचड़ इस उपभाषा से जन्मी सिंधी भाषा।

पश्तो एवं दरद भाषाओं पर पैशाची का प्रभाव है ऐसा भी एक बलिष्ठ मतप्रवाह है। ‘बृहत्कथा’ की पैशाची भाषा का कोई नमूना आज उपलब्ध नहीं है, किन्तु इस में कोई सन्देह नहीं की वह एक प्रगल्भ साहित्यिक भाषा थी।

पैशाची की एक और उपभाषा यानी चूलिका पैशाची। इन दो भाषाओं में अल्प अंतर है। इस भाषा में मूर्धन्य वर्णों का प्रयोग किया जाता है। वैदिक लोगों का भारत में आगमन वायव्य दिशा से ही होने के कारण उनकी भाषा के ‘ळ’, ‘ण’ आदि मूर्धन्य वर्ण उन्होंने पैशाची भाषा ही से लिए, संभव है।

पाली

बौद्ध धर्म का अधिकांश प्राचीन साहित्य पाली भाषा में होने के कारण इस भाषा की अपनी एक प्रतिष्ठा है। ‘पाली’ यह शब्द, ‘पल्ली’ यानी ‘पंक्ति’ से बना तथा ‘सुन्तन’ इस अर्थ से उसका उपयोग किया गया ऐसी। इसकी व्युत्पत्ति तथा स्पष्टीकरण विद्वानों द्वार दिया गया था। किन्तु पल्ली का अर्थ गांव है इसलिए इसका पंक्ति के साथ बलपूर्वक संबंध लगाने के बजाए, इसे ‘गांव की भाषा’ समझा जाए, यह मत है हरगोविन्द टी. सेठ का। यह इकलौती भाषा है जिसे संस्कृत की ही भाँति न तो प्रादेशिक ना किसी जाति का संदर्भ है। आजकल यह मत दृढ़ होने लगा है कि, पाली भाषा बौद्धों ने ग्रान्थिक उपयोग के लिए कृत्रिम रूप से निर्माण की है और प्रस्तुत लेखक इससे सहमत है।

थेरवादी बौद्धों का अधिकांश लेखन पाली भाषा में है। तान्त्रिक बौद्धों ने भी बाद में इसी भाषा में लेखन किया और इस कारण इसे ‘तंती’ भाषा का भी नाम प्राप्त हुआ। पहले ऐसी मान्यता थी की, पाली यानी मागधी भाषा किन्तु अशोक के लेखों की मागधी तथा पाली भाषा में अंतर है और पाली में आसपास की प्राकृत विशेषताएं समाविष्ट हैं। विश्वविख्यात विद्वान विल्हेम ग्रीगर कहते हैं, पाली भाषा मागधी के आधार से बनी एक स्वतन्त्र भाषा है न की स्वयं मागधी। विख्यात बौद्ध विद्वान रे. वालपोला राहुल कहते हैं, यद्यपि भगवान बुद्ध ने अपना उपदेश पाली भाषा में किया या मागधी में, इसे विवादास्पद मुद्दा माना जाए त्रिपिटकों की भाषा मागधी के आधार से तथा अन्य प्राकृत भाषाओं के संस्कार द्वारा निर्मित बनी भाषा है, इस में कोई सन्देह नहीं हो सकता।⁵ फिर प्रश्न यह उठता है कि, पाली भाषा किस स्थान पर बोली जाती थी? क्या वह बोली भाषा थी या संस्कृत से पहले किन्तु संस्कृत की तरह ग्रान्थिक कारणों से निर्मित, बुद्धवचनों को संग्रहित करने हेतु इसका निर्माण किया गया था, जिस कारण वह केवल बौद्धों तक ही सीमित रही?

प्रस्तुत लेखक के मतानुसार इन प्रश्नों के उत्तर खोजना आवश्यक है। भगवान बुद्ध केवल मगध ही नहीं बल्कि आसपास के अन्य प्रदेशों में भी अपना उपदेश दिया करते रहे, इस कारण उनकी भाषा में कुछ भाषिक मिश्रण उत्पन्न होने का एक तर्क दिया जाता है किन्तु सबल प्रमाणों के अभाव में यह तर्क टिक नहीं पाता। पाली भाषा मागधी की (और इसी कारण पाली में उपयोग की गई अन्य प्राकृत भाषाओं की भी) अपेक्षा अधिक

प्रागतिक है। पाली की ध्वन्यात्मक रचना मागधीसहित अन्य प्राकृत भाषाओं से भिन्न है। एक अर्थ से वह प्राकृत और संस्कृत के बीच का पुल है। भाषाविदों ने स्पष्ट किया है कि, पाली का वैदिक भाषा से दूरदूर तक कोई संबंध नहीं है। इस बात के पर्यास प्रमाण उपलब्ध है कि, प्राकृत से संस्कृत तक की भाषिक यात्रा पाली से होते हुए हुई है। इतना ही नहीं, पाली भाषा जिस प्राकृत भाषा पर आधारित थी, वह भाषा ऋग्वेद की भाषा से भी प्राचीन थी।⁶ अपितु, संस्कृत भाषा के निष्ठावान फिर भी यह प्रतिपादन करते हैं कि, पाली पर संस्कृत का प्रभाव सर्वाधिक है।

पाली भाषा का आद्य वैयाकरण कच्छायन था ऐसा माना जाता है। उसने 'संधि कप्प' नामक चार प्रकरणों का व्याकरण लिखा। कच्छायन ने ४१ मूलाक्षर बताए किन्तु आगे चलकर 'अभिधम्मदीपिका' का लेखक तथा वैयाकरण मोगलायन ने ४३ मूलाक्षरों की अभिकल्पना की। इस व्याकरण का निर्माण समय प्रो.

मैक्समूल्लर के अनुसार ईसापूर्व ६०० से ईसापूर्व २०० है। महावंश में कच्छायन का आदरपूर्ण उल्लेख आता है, इसका अर्थ स्पष्ट है, कच्छायन महावंश के पूर्व था। महावंश का काल ईसवी की पांचवीं शताब्दी माना जाता है। यह ग्रन्थ श्रीलंका में लिखा गया। पाली भाषा के व्याकरणनिबद्ध लिखित ग्रन्थ ईसापूर्व ३०० से उपलब्ध हैं और इससे भी यह स्पष्ट होता है कि, कच्छायन का समय इससे पूर्व था। बुद्धपियो दीपंकर ने अपने पाली व्याकरण 'रूपसिद्धि' (जो कच्छायन के व्याकरण पर आधारित था) में कच्छायन के संबंध में जानकारी दी है। इस जानकारी के अनुसार कच्छायन शाक्य मुनि (यानी गौतम बुद्ध) का शिष्य था और उन्हीं के आदेशानुसार उसने पाली भाषा का पहला व्याकरण लिखा। 'संधि कप्प' व्याकरण का पहला सुत (सूत्र) 'अट्टो अक्खरा सन्नतो' यानी अक्षरों से भाव ज्ञात होता है, यह स्वयं बौद्ध द्वारा उच्चारित शब्द हैं ऐसी बौद्ध परंपरा की मान्यता है। कच्छायन की भाषा का चलन भी प्राचीन है।⁷ एडवर्ड बाल्फोर के अनुसार, रूपसिद्धि की कथा संभवनीय है क्योंकि बुद्ध जिस विशाल प्रदेश में धर्मोपदेश करते हुए घूमते थे, उस में विभिन्न बोलियां बोली जाती थीं और इस कारण भगवान बुद्ध को अपने विचार लोगों तक अचूक पहुंचाने में कठिनाई होना स्वाभाविक था। अपने वचनों को भाषिक एकवाक्यता तथा यथार्थता प्रदान करते हुए उच्चारण एवं शब्द लेखन को प्रमाणित करने की आवश्यकता उन्हें प्रतीत होना भी सहज संभव है।⁸ बाल्फोर ही नहीं, फ्रान्सिस मैसन का भी यही मत है।⁹ आज हमें कच्छायन का व्याकरण उपलब्ध हुआ है तो वह ब्रह्मदेश, नेपाल, तिब्बत और सिलोन (श्रीलंका) से। भारत में बौद्ध धर्म के पिछड़ने पर संभवतः यह ग्रन्थ यहां नष्ट हुआ क्योंकि इसकी एक भी प्रतिलिपि अभी तक भारत में प्राप्त नहीं हुई है। ऐसा भी कहा जा सकता है कि, कच्छायन के व्याकरण के ही कारण पाली भाषा श्रीलंका, ब्रह्मदेश तथा अन्य बौद्ध धर्मीय देशों में जीवित रही। इसी व्याकरण के कारण बौद्ध भिक्खु यह भाषा निरंतर सीखते आ रहे हैं। किसी समय यह भाषा जनभाषा थी या नहीं इस संबंध में निश्चय से कहा नहीं जा सकता अपितु यह बौद्ध धर्म की धर्मभाषा बन कर रही। संभव है, कृत्रिम होने के कारण यह जनभाषा नहीं रही हो। कुल चित्र ऐसा है कि, भगवान बुद्ध ने उपदेश मागधी भाषा में किया किन्तु वह लिपिबद्ध पाली में हुआ। कच्छायन की भाषा का प्राचीन स्वरूप देखते हुए उसका समय बुद्धकाल के निकट होने की संभावना है।

समय के साथ पाली भाषा विकसित होती रही। उसका सब से प्राचीन रूप त्रिपिटक एवं संलग्न साहित्य में दिखाई देता है। इससे विकसित रूप त्रिपिटकों के गद्य विभाग में पाया जाता है। विकास का तीसरा चरण बुद्धघोष के 'अट्टकथा' में तो चौथा दीपवंश, महावंश आदि ग्रन्थों में देखा जा सकता है। कच्छायन का व्याकरण त्रिपिटकों के अनुसार लिखे जाने के कारण वह पहला तथा अती प्राचीन व्याकरण माना जाता है।

पाली का व्याकरण पाणिनी-पूर्व है। यह भी कहा जा सकता है कि, पाणिनी के 'अष्टाध्यायी' की रचना कच्छायन के 'संधि कप्प' की धर्तीपर की गई है। इन दोनों ही ग्रन्थों में आठ ही अध्याय हैं और संधि कप्प के कुछ सुत्तों (सूत्र) का प्रभाव पाणिनी के व्याकरण पर है। फ्रान्सिस मैसन के अनुसार, स्वयं पाणिनी ने 'अष्टाध्यायी' में अपने पूर्ववर्ती के रूप में कच्छायन का आदरपूर्वक उल्लेख किया है तथा कच्छायन के कई नियमों को उधार लिया है।¹⁰ कुल जिस कारण से (ग्रान्थिक) पाली की निर्मिती की गई, उसी कारण से संस्कृत की भी निर्मिती की गई इस बात पर गौर करना आवश्यक है। एक प्रकार से पाली ने संस्कृत के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया था।

पाली भाषा के महत्वपूर्ण ग्रन्थ

निम्न जानकारी मुख्य रूप से मराठी विश्व कोश से ली गई है और इसे हम सम्पादित रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं।

त्रिपिटक पाली भाषा का सब से प्राचीन साहित्य है। इन में विनयपिटक, सुत्तपिटक तथा अभिधम्मपिटक ये तीन पिटक या पिटारे समाविष्ट हैं। प्रत्येक पिटक में स्वतन्त्र घटक-ग्रन्थ हैं। त्रिपिटक बौद्ध संस्कृत, तिब्बती तथा चिनी भाषा में भी उपलब्ध हैं, तथापि पाली त्रिपिटक इन त्रिपिटकों से अधिक प्राचीन है। इस में गौतम बुद्ध द्वारा अपने अनुयायीयों के लिए दिए गए नियम, उनका उपदेश तथा उनका तत्त्वज्ञान समाविष्ट है।

विनयपिटक में पातिमोक्ख का जिन में अन्तर्भाव है ऐसे सुत्तविभंग, खंधक और परिवार इन प्रमुख ग्रन्थों का समावेश है। सुत्तविभंग के 'पाराजिक' एवं 'पाचित्तिय' ऐसे दो उप-विभाग हैं। खंधक के भी दो भाग हैं, जिन के नाम 'महावग्ग' एवं 'चूलवग्ग' हैं। बौद्ध भिक्षु एवं भिक्षुणियों द्वारा पालन किए जाने आवश्यक नियम पातिमोक्ख ग्रन्थ में संग्रहित हैं। सुत्तविभंग के ऊपरिनिर्दिष्ट भागों में, पातिमोक्ख में दिए गए नियम क्यों और कैसे बने इसकी कथाएं तथा उन नियमों का स्पष्टीकरण दिया गया है। खंधक के 'महावग्ग' भाग में भगवान् बुद्ध को बोधिवृक्ष के नीचे ज्ञान प्राप्त होने के समय से ले कर सारिपुत्र और मोगल्लान उनके साथ आने तक की जीवनकथा वर्णन की गई है। बौद्ध संघ में प्रवेश प्राप्त करने के लिए आवश्यक दीक्षी विधि, सांघिक जीवन में होनेवाले प्रमाद तथा उनके उपाय इनकी जानकारी दी गई है। 'चूलवग्ग' भाग में भिक्षुओं का सांघिक जीवन, उनसे होनेवाले प्रमाद, उनसे संबंधित दंड योजना, प्रायश्चित्त आदि का सविस्तार वर्णन है। 'परिवार' ग्रन्थ श्रीलंका में लिखा गया ऐसा तर्क है।

सुत्तपिटक त्रिपिटक का आत्यंतिक लोकप्रिय पिटक है तथा बौद्ध धर्म का यथार्थ परिचय कराना इस पिटक का हेतु है। दीघनिकाय, मज्जमनिकाय, संयुक्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय एवं खुद्दकनिकाय इन पांच निकायों से सुत्तपिटक बना है। पहले चार निकायों को संभाषण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। पांचवे खुद्दनिकाय में कुल १५ ग्रन्थ समाविष्ट हैं।

अभिधम्मपिटक में धर्मसंगणि, विभंग, धातु कथा, पुग्गलपंजत्ति, कथावत्थु, यमक और पट्टान ऐसे कुल सात ग्रन्थ अन्तर्भूत हैं। मन, मनोवृत्ति, आसपास की बाह्य चराचर सृष्टि और निर्वाण इन के संबंध में आत्यंतिक पांडित्यपूर्ण किन्तु किलष्ट विवेचन इस पिटक में पाया जाता है। इस पिटक की रचना सब से अंत में हुई है तथा उसके कम से कम कुछ भाग सिंहल द्वीप यानी श्रीलंका में रचे गए थे ऐसा विद्वानों का तर्क है।

अटुकथा

त्रिपिटक के मूल ग्रन्थों पर भाष्य के रूप में जो आरंभिक सविस्तार समीक्षाएं लिखी गई, उन्हें 'अटुकथा' के नाम से जाना जाता है। बुद्धघोष, बुद्धदत्त, धर्मपाल, उपसेन तथा महानाम इन ज्ञानी भिक्षुओं ने ये कथाएं लिखी हैं। बुद्धघोष की अटुकथा सब से प्राचीन है। इन अटुकथाओं में त्रिपिटक के मूल पाली ग्रन्थ के शब्दों तथा शब्दसमुच्चयों के अर्थ दिए हैं और ऐतिहासिक, पौराणिक एवं पारंपरिक आख्यान भी दिए गए हैं। अटुकथाओं का काल सामान्य रूप से ईसवी की पहली से तीसरी शताब्दी तक का माना जाता है। मूल अटुकथा आज उपलब्ध नहीं हैं और केवल बुद्धघोष की ही अटुकथा उपलब्ध है। बौद्ध साहित्य में त्रिपिटक के पश्चात अटुकथाओं का ही महत्व है। इनपर समीक्षाएं लिखी गई, जैसे सुत्तपिटक के अन्तर्गत दीघनिकाय ग्रन्थ में 'सुमंगलविलासिनी' इस अटुकथा की समीक्षा 'लीनत्थपकासनी' शीर्षक से समाविष्ट है। कुछ समीक्षा ग्रन्थ अभी

नष्ट हो चुके हैं और उनकी पांडुलिपियां तक अप्राप्य हैं। अभिधम्मपिटक पर भिक्षु आनंद द्वारा लिखित मूलटीका (आठवीं-नौवीं शताब्दी) इस पिटक का पहला समीक्षा ग्रन्थ माना जाता है।

त्रिपिटक तथा अटुकथाओं के अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थों में नेत्रिपकरण, पेटकोपदेस तथा मिलिंदपञ्च हे ग्रन्थ हैं। पहले दो ग्रन्थ महाकच्छयान द्वारा लिखे जाने की पारंपरिक श्रद्धा है। नेत्रिपकरण ग्रन्थ त्रिपिटक के पश्चात किन्तु अटुकथाओं के पूर्व लिखा गया ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की रचना बौद्ध धर्मोपदेशों के लिए मार्गदर्शिका के रूप में की गई है। ‘नेत्रि’ शब्द का अर्थ ही मार्गदर्शिका है। भगवान बुद्ध के उपदेशों का वर्गीकरण इसमें किया गया है। इस में १६ ‘हार’ (विषयमाला), ५ ‘नय’ (निर्णय करने की नीतीयां) तथा १८ ‘मूलपद’ (मुख्य नैतिक विषय) समाविष्ट हैं। पेटकोपदेस यह ग्रन्थ भी इसी प्रकार का है। नेत्रिपकरण के विषय ही इस में कुछ अलग ढंग से प्रस्तुत किए गए हैं। नेत्रिपकरण में संदिग्ध रह गए कुछ मुद्दों पर पेटकोपदेस में नए से प्रकाश डाल कर उन्हें अधिक स्पष्ट किया गया दिखाई देता है। इस में यह सिद्ध किया गया है कि, चार आर्यसत्य ही बौद्ध धर्म का बीज हैं और विषयों को विन्यास भी मुख्य रूप से इन आर्यसत्यों की दृष्टि से ही किया गया है। इन दो ग्रन्थों का कर्ता माना जानेवाला महाकच्छायन यानी बुद्ध के जीवनकाल में उनका प्रत्यक्ष शिष्य बना कच्छायन नहीं है, यह समझना आवश्यक है।

ईसवी की पहली शताब्दी में रचा गया ‘मिलिंदपञ्च’ (संस्कृत रूप, मिलिंदप्रश्न) यह ग्रन्थ भी महत्वपूर्ण है। ‘मिलिंद’ नाम से प्रसिद्ध ग्रीक राजा मीनंदर तथा बौद्ध भिक्षु नागसेन इनके संभाषण के रूप में बौद्ध धर्म के संबंध में कई वादग्रस्त मुद्दों की चर्चा प्रस्तुत ग्रन्थ में की गई है। मिलिंद प्रश्न पूछता है और नागसेन उसका उत्तर देता है, इस प्रकार की इस ग्रन्थ की रचना है। ग्रन्थ का कर्ता अज्ञात है। पाली भाषा के उत्कृष्ट गद्य लेखन का यह ग्रन्थ एक नमूना माना जाता है।

वंससाहित्य

त्रिपिटक के सुत्तपिटक में बुद्धवंस नामक एक ग्रन्थ अन्तर्भूत है। बारा कल्पों की समयावधि में कुल २४ बुद्ध हुए, ऐसी बौद्धों की मान्यता है। इन २४ बौद्धों का पद्य वृत्तान्त ‘बुद्धवंस’ में दिया गया है। इसी ग्रन्थ की धर्ती पर आगे चलकर पाली भाषा में कई वंसग्रन्थ लिखे गए। इन में ‘दीपवंस’ तथा ‘महावंस’ ये दो ग्रन्थ विशेष महत्वपूर्ण हैं। पाली वंसग्रन्थ का स्वरूप कुछ मराठी बखर (इतिहास लेखन का एक प्रकार) जैसा है। ‘दीपवंस’ का उद्देश्य श्रीलंका का, विशेष कर वहां हुए बौद्ध धर्मप्रसार का इतिहास कथन करना। यह ग्रन्थ मुख्य रूप से पद्यमय है किन्तु कुछ स्थानों पर गद्य के अंश भी दिखाई देते हैं। सिंहल द्वीप के बौद्धों में प्रचलित काफी पारंपरिक जानकारी प्रस्तुत ग्रन्थ में एकत्रित पाई जाती है। ग्रन्थ की रचना संभवतः ईसवी की चौथी शताब्दी में की गई। ‘महावंस’ का स्वरूप देखें तो ‘दीपवंस’ की पुनर्रचना तथा उसपर साभिप्राय भाष्य करना यही इसकी रचना का उद्देश्य लगता है। ‘महावंस’ के कर्ता का नाम महानाम है और यह ग्रन्थ सिंहल देश के राजा धातुसेन (पांचवीं शताब्दी) के कार्यकाल में लिखा गया। ‘दीपवंस’ की लेखन शैली सरल तो ‘महावंस’ की आलंकारिक है। ‘महावंस’ पर ‘वंसस्थापकासिनी’ नामक समीक्षा लिखी गई, जो संभवतः स्वयं महानाम ने ही लिखी है, ऐसा एक तर्क है। मूल ‘महावंस’ में ३७ परिच्छेद हैं और अंतिम परिच्छेद की पचासवीं गाथा के साथ वह समाप्त होता है। तथापि, आगे चलकर समय-समय पर तथा विभिन्न लेखकों ने इस में परिवर्धन किया। यह परिवर्धित भाग ‘चूल्हवंस’ के नाम से जाना जाता है। सिंहल देश के राजा महासेन के कार्यकाल तक का निवेदन ‘दीपवंस’ और ‘महावंस’ में आया है तथा ‘चूल्हवंस’ का आरंभ महासेन का पुत्र सिरिमेघवण्ण (श्रीमेघवर्ण) के कार्यकाल से शुरू हो कर सिरिविक्रमराजसीह (श्रीविक्रमराजसिंह) के कार्यकाल तक का वृत्तान्त वर्णन करता है। इसके पश्चात यहां का राज अंग्रेजों (इंगिरिसिनामका) के हाथ चला गया ऐसा उल्लेख ग्रन्थ के अंत में पाया जाता है।

इन विशेष वंशग्रन्थों के अतिरिक्त भी कई उल्लेखनीय वंशग्रन्थ हैं। 'महाबोधिवंस' ग्रन्थ में बोधिवृक्ष के सिंहल देश में प्रवेश की कथा दी गई है। इस ग्रन्थ का रचयिता सिंहली भिक्षु उपतिस्स (उपतिष्ठ) संभवतः ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ था, ऐसा गायगर इस विद्वान का मत है। 'थूपवंस' (स्तूपवंश, लगभग तेरहवीं शताब्दी) में भगवान बुद्ध के पवित्र अवशेषों पर बनाए गए स्तूपों की, विशेष रूप से लंकाधिपती दुत्थगामनी ने अनुराधपूर में बनाए महास्तूप की, जानकारी पाई जाती है। सिंहली भिक्षु सारिपुत्र का शिष्य वाचिस्मर की यह रचना है। 'दाठावंस' (लगभग तेरहवीं शताब्दी) ग्रन्थ धर्मकित्ति (धर्मकीर्ति) नामक सिंहली भिक्षु द्वारा सिंहली भाषा के एक ग्रन्थ के पाली में अनुवाद के रूप में सिद्ध किया गया। भगवान बुद्ध का एक अवशेष, उनका दांत उस देश में कैसे आया इसका वर्णन इस ग्रन्थ में है। 'हृत्थवनगल्लविहारवंस' ग्रन्थ के ग्यारह अध्याय हैं, जिन में पहले आठ अध्यायों में राजा सिरिसंघबोधी का तथा शेष तीन अध्यायों में इस राजा ने जहां आत्मबलिदान दिया उस स्थान पर बने विहारों का वृत्तान्त दिया गया है। सरल लेखन शैली यह इस ग्रन्थ की एक विशेषता है, अपितु इस के कुछ भागों में बाणभट्ट कृत 'कादम्बरी' ग्रन्थ की लेखन शैली का अनुकरण है। 'छ-केस-धातुवंस' तथा 'नलाटधातुवंस' (ललाटधातुवंश) ये आधुनिक ग्रन्थ हैं जो संभवतः उन्नीसवीं शताब्दी में लिखे गए हैं। पहले ग्रन्थ का लेखक एक अज्ञात ब्रह्मदेशी नागरिक है और ग्रन्थ में भगवान बुद्ध के पवित्र केश पर बनाए गए स्तूपों का वर्णन है और दूसरे में बुद्ध के ललाट का इतिहास वर्णन किया गया है। 'गंधवंस' (ग्रन्थवंश) तथा 'सासनवंस' (शासनवंश) ये दो ग्रन्थ पाली साहित्य के इतिहास की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं। 'गंधवंस' में पाली भाषा के ग्रन्थकार एवं उनके ग्रन्थों की सूचि दी गई है। साथ में ऐसे ग्रन्थों के भी नाम हैं, जिनके रचयिता अज्ञात हैं। इस ग्रन्थ का निर्माता संभवतः ब्रह्मदेशी नागरिक है और यद्यपि ग्रन्थ का काल बताना कठिन है, संभव है वह उन्नीसवीं शताब्दी में लिखा गया है। 'सासनवंस' ग्रन्थ में (उन्नीसवीं शताब्दी) ग्रन्थ के ब्रह्मदेशी रचयिता पज्जासामी (पज्जास्वामी) ने विभिन्न देशों में बौद्ध धर्म के प्रसार के संबंध में जानकारी दी है। बौद्ध शासन का यह इतिहास है। अजातशत्रू, कालाशोक तथा धर्माशोक इन बौद्ध राजाओं के कार्यकालों में हुए तीन बौद्ध संगीतीयों का वृत्तान्त भी इस में पाया जाता है। अट्ठारवीं शताब्दी में थाईलैंड में 'संखीती वंस' (संगिती वंश) नामक एक ग्रन्थ वहां के भदन्त वनरतन (सोमदेज वनरतन) ने लिखा था। इस में बौद्धों के नौ संगीतीयों का उल्लेख है।

संखेप संग्रह

व्यापक विषयों का संक्षेप में विवेचन करनेवाले संक्षेप-संग्रह-संकलन ग्रन्थ कई हैं। इन में 'सञ्चसंखेप' (सत्यसंक्षेप) सम्मिलित है। इस ग्रन्थ के रचयिता के संबंध में विद्वानों में एकमत नहीं है। कुछ के अनुसार वह धम्मपाल था तो कुछ के अनुसार आनंद था। 'अभिधम्मत्थसंगह' इस अभिधम्म के सारभूत ग्रन्थ की रचना सिंहली भिक्षु अनिरुद्ध ने की। अनिरुद्ध का अनुमानित समय आठवीं से बारहवीं शताब्दी है। यह ग्रन्थ बहुत लोकप्रिय रहा। इसपर सिंहली भिक्षु सुमंगल कृत 'अभिधम्मत्थविभावनी' और छप्पद या सद्धम्मजोतिपाल इस ब्रह्मदेशी भिक्षु द्वारा लिखी 'संखेपवण्णवा' (बारहवीं शताब्दी) ऐसी दो समीक्षाएं प्रसिद्ध हैं। धर्मकित्ति महासामी (धर्मकीर्ति महास्वामी) द्वारा तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में बौद्ध शासन संग्रह के विषय में 'सद्धम्मसंगह' यह ग्रन्थ रचा गया। पाली साहित्य के अट्कथाकार, टीकाकार एवं अन्य ग्रन्थकारों के नाम उनके ग्रन्थों के शीर्षकों के साथ प्रस्तुत ग्रन्थ में दिए गए हैं और इस दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

कथा साहित्य

पाली भाषा का कथा साहित्य जातकों तथा जातक कथाओं ने समृद्ध किया है। बौद्ध धर्म के प्रसार हेतु भगवान बुद्ध के अनुचरों ने जातक कथाओं का उपयोग किया। व्यवहारिक नीतिकथाएं, दीर्घ साहसकथाएं, शुद्ध

व्यंगात्मक कथाएँ ऐसे विभिन्न प्रकार की जातक कथाएँ हैं। इन कथाओं में भगवान बुद्ध बोधिसत्त (बोधिसत्त), नाम से कथानायक, कथा का दुर्यम पात्र या कथा की घटनाओं का एक दर्शक इन रूपों में प्रस्तुत किए गए हैं। बुद्धघोषादि अट्टकथाकारों ने अपने मुद्दों के स्पष्टीकरण हेतु प्रायः जातक कथाओं का उपयोग किया है। सिंहली द्वीप में प्रचलित 'सीहलवत्थुप्पकरण', 'सहस्रवत्थुप्पकरण' तथा 'रसवाहिनी' इन ग्रन्थों का भी पाली भाषा के कथा साहित्य में समावेश होता है। 'सीहलवत्थुप्पकरण' ग्रन्थ हाल ही में प्रसिद्ध हुआ है और इसका कर्ता धर्मनंदी (धर्मनंदी) सौराष्ट्र के कट्टसोलपट्टन का निवासी होने का उल्लेख ग्रन्थ में पाया जाता है।

काव्य

पाली भाषा में 'तेलकटाहगाथा' एवं 'पञ्जमधु' ये दो लघु काव्य उपलब्ध हैं और वे उल्लेखनीय हैं। 'तेलकटाहगाथा' में १०० (कुछ संस्करणों में ९८) गाथाएँ हैं। केलणिया के राजा कल्याणी तिस्स (ईसापूर्व ३०६-२०७) के सन्देह हुआ कि, उसकी रानी के साथ कल्याणिय नामक भिक्षु के यौनसंबंध हैं। राजा ने भिक्षु को गर्म तेल की कराही में फेंकने का दंड सुनाया। तथापि निर्दोष होने के कारण भिक्षु कराही में भी सुरक्षित रहा और उसी ने फिर यह काव्य लिखा ऐसी आख्यायिका है। काव्य का वास्तविक लेखक अज्ञात है। काव्य से दिखाई देता है कि, उसका रचयिता बौद्ध धार्मिक साहित्य से उत्तम रूप से परिचित रहा होगा। इस ग्रन्थ को पाली के शतक साहित्य का एक उदाहरण कहा जा सकता है।

'पञ्जमधु' काव्य बुद्ध की स्तुतिपर है और इस में १०४ गाथाएँ हैं। 'रूपसिद्धी' व्याकरण ग्रन्थ का लेखक बुद्धपियो ने इस काव्य की रचना की है। आरंभिक ६९ गाथाओं में भगवान बुद्ध के रूपश्री का वर्णन है और आगे उनकी प्रज्ञा, सीख तथा संघ एवं निर्वाण का स्तवन है।

एक और उल्लेखनीय काव्य पाली में उपलब्ध है, जिसका शीर्षक 'जिनचरित' है और इस में विविध छंदों में रची ४७० गाथाएँ हैं। इस काव्य का विषय भगवान बुद्ध का जीवन है और जातक-निदान कथाओं के आधार से इसका निवेदन किया गया है। इस काव्य की हल्कीफुल्की किन्तु मोहक भाषा, चतुर एवं संपन्न वर्णन ये विशेषताएँ विलोभनीय हैं। बौद्धों के संस्कृत साहित्य में 'बुद्धचरित' का जो स्थान है, वही पाली साहित्य में 'जिनचरित' का माना जाता है। 'गंधवंस' तथा 'सद्ब्रह्मसंगह' इन ग्रन्थों में 'जिनचरित' का कर्ता मेघंकर होने का कहा है। मेघंकर एक सिंहली भिक्षु था और 'वनरतन मेघंकर' नाम से जाना जाता था। लंकाधिपती प्रथम भुवनेक बाहु (तेरहवीं शताब्दी) के कार्यकाल में मेघंकर हुआ था। ज्ञानप्राप्ति होने तक के बुद्ध के जीवन का वर्णन 'जिनालंकार' (२५० गाथाएँ) इस ग्रन्थ में पाया जाता है।

पाली साहित्य के अन्य काव्यग्रन्थों में 'अनागतवंस', 'सद्ब्रह्मोपायन' और 'पंचगतिदीपन' समाविष्ट हैं। 'अनागतवंस' में भविष्य में (अनागत) उत्पन्न होनेवाले बुद्ध मैत्रेय के जीवन का चित्र वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ के विभिन्न पाठ प्राप्त हुए हैं जो एकदूसरे से मेल नहीं खाते हैं। एक पाठ गद्य-पद्य मिश्रित है तो एक पूर्ण पद्यमय है और अन्य एक में भविष्यकाली दस बुद्धों का जीवन गद्य शैली में वर्णन किया गया है। पाली काव्य की दृष्टि से यहां केवल पद्य पाठों का ही विचार करेंगे। उपलब्ध एक पद्य पाठ में १४२ गाथाएँ हैं और गौतम बुद्ध एवं सारिपुत्त (सारीपुत्र) के बीच हुआ यह संभाषण है। सारिपुत्त के अनुरोध पर गौतम बुद्ध उसे मैत्रेय बौद्ध के संबंध में कथन करते हैं। 'गंधवंस' में 'अनागतवंस' के कर्ता के रूप में कस्सप का नाम बताया है। 'सुत्तपिटक' अंतर्गत बुद्धवंस में बारा कल्पों के समयावधि में हुए २४ बुद्धों का वृत्तान्त दिया गया है। भगवान गौतम बुद्ध यह पच्चीसवां बुद्ध है और गौतम बुद्ध के जीवन के वर्णन के साथ बुद्धवंस समाप्त होता है।

'सद्ब्रह्मोपायन' बौद्ध धर्म से संबंधित एक महत्वपूर्ण एवं उद्बोधक काव्य है। इस में ६२९ चरण हैं तथा उपोद्धात एवं उपसंहार भी हैं। उपोद्धात में काव्य के कर्ता ने अपना नाम 'ब्रह्मचारी बुद्धसोमपिय' दिया है। यह कवि संभवतः श्रीलंकन है। ऐसा भी एक मत है कि यह काव्य अभयगिरी कविचक्रवर्ती आनंद ने लिखा है और

केवल स्नेहवश ब्रह्मचारी बुद्धसोमपिय को अर्पण किया है। इस काव्य में बुद्ध के बताए मार्ग (सद्ब्रह्म) का विवेचन है। सामान्य रूप से इस काव्य के दो भाग किए जा सकते हैं। पहले भाग में दुराचार के कुपरिणाम तथा दूसरे में सदाचार के सुपरिणाम वर्णन किए गए हैं। बौद्ध धर्म के लगभग सभी मौलिक सिद्धान्त इस में अन्तर्भूत हैं। काव्य की शैली भी सुबोध एवं सुंदर है। गायगर के अनुसार ‘सद्ब्रह्मोपायन’ का समय चौदहवीं शताब्दी है किन्तु इस संबंध में एकमत नहीं है।

‘पंचगतिदीपन’ इस काव्य में पांच गतियों या योनियों का वर्णन ११४ गाथाओं में किया गया है। कायिक, वाचिक या मानसिक जो भी अच्छे-बुरे काम मनुष्य करता है मृत्योपरांत उनके अनुसार उसे उचित गति प्राप्त होती है ऐसा इस काव्य में कहा गया है। इस में संजीव, कालसुत्त, संघात, रौरव तथा महारौरव ऐसे विभिन्न प्रकार के नर्क के नाम भी दिए गए हैं। काव्य की शैली प्रासादिक है। इस काव्य का समय तथा रचयिता अज्ञात हैं। विदुरुपोलपियतिस्स कृत ‘महाकस्सपचरित’ (महाकश्यपचरित्र) यह भी एक उल्लेखनीय काव्य है। पाली में ‘नेक्खम्मचम्पू’ नामक एक चंपू काव्य है। बुद्ध का अपने घर से अभिनिष्ठकमण इस काव्य का विषय है। रतनपंज नामक एक थाई भिक्षु ने सन १५१६ में ‘जिनकालमालिनी’ नामक एक गद्य-पद्य मिश्र ग्रन्थ लिखा। इस में बुद्ध की पृष्ठभूमि के साथ उनकी हकीकत है और साथ में भारत में हुई तीन संगीतीयां, श्रीलंका में बौद्ध धर्म की प्रतिष्ठापना एवं चौथी संगीती, वहां के राजाओं की परम्परा, उस परम्परा के प्रत्येक राजा के कार्यकाल के वर्ष, ब्रह्मदेश, लाओस तथा थाईलैंड के बौद्ध धर्म को श्रीलंका से प्राप्त देन आदि के वृत्तान्त भी दिए गए हैं।

व्याकरण कोश

पाली भाषा के अध्ययन के लिए उपयुक्त कई व्याकरण ग्रन्थ रचे गए थे। कच्छायन को पाली का आद्य वैयाकरण माना जाता है। संधिकण्प, नामकण्प, आख्यातकण्प एवं किविधानकण्प ये कच्छायन के ग्रन्थ के चार मुख्य प्रकरण हैं और इसके सूत्रों की संख्या विभिन्न संस्करणों के अनुसार ६७२ से ६७५ के आसपास है।

‘रूपसिद्धी’ ग्रन्थ कच्छायन के व्याकरण-सम्प्रदाय का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। दक्षिण भारत के बालादिच्च नामक विहार का अध्यक्ष बुद्धपिय दीपंकर इस ग्रन्थ का कर्ता है। उसने तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इस ग्रन्थ की रचना की। ग्रन्थ के कुल सात प्रकरण हैं और सूत्र संख्या ६६८ है। इस ग्रन्थ में कच्छायन के व्याकरण के ही सूत्र भिन्न अनुक्रम में दिए गए हैं। कच्छायन के व्याकरण पर आधारित ‘बालावतार’ यह एक और ग्रन्थ है। पाली भाषा के उपलब्ध व्याकरण ग्रन्थों में यह सब से छोटा ग्रन्थ है। इसका कर्ता धर्मकीर्ति है और विद्वानों के अनुसार ‘सद्ब्रह्मसंगह’ रचयिता धर्मकीर्ति महास्वामी और ‘बालावतार’ रचयिता धर्मकीर्ति एक ही हैं। किन्तु, ‘गंधवंस’ के अनुसार ‘बालावतार’ वाचिस्सर (वागीश्वर) की रचना है, जो सारिपुत्र के शिष्यों में एक था। धर्मकीर्ति महास्वामी को इस ग्रन्थ का रचयिता माना जाए तो इसका समय तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी बनता है और वाचिस्सर को कर्ता माना जाए तो यह बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी बनता है।

मोगगल्लान या मौद्रल्यायन यह पाली व्याकरण की दूसरी परम्परा स्थापन करनेवाला वैयाकरण है। श्रीलंका के अनुराधपूर में थूपारामा का वह निवासी था। उसने अपना व्याकरण ग्रन्थ राजा परक्कमभूज (पराक्रमबाहू, ११५३-११८६) के कार्यकाल में रचा। इस ग्रन्थ के कुल छह काण्ड हैं और विभिन्न संस्करणों में इसकी सूत्र संख्या ८१० से ८१७ है। श्रीलंका के केलनिया (कल्याणी) स्थित विद्यालंकार मठ-विश्वविद्यालय ने मोगगल्लान व्याकरण की परम्परा का आस्थापूर्वक जतन किया है। अपने व्याकरण पर स्वयं मोगगल्लान ने वृत्ति एवं पंचिका (टीका-समीक्षा) लिखी है।

मोगगल्लान का शिष्य पियदस्ती (प्रियदर्शी) ने मोगगल्लान के व्याकरण पर आधारित ‘पदसाधन’ इस व्याकरण ग्रन्थ की रचना की। कहा जाता है कि, कच्छायन का व्याकरण और बालावतार के बीच जो नाता है,

वही मोगल्लान का व्याकरण और पदसाधन के बीच है। वनरतन मेधंकर (तेरहवीं शताब्दी) रचित ‘पयोगसिद्धी’ ग्रन्थ मोगल्लान प्रणित व्याकरण सम्प्रदाय का एक उत्तम ग्रन्थ है।

अगगवंस नामक ब्रह्मी भिक्षु कृत ‘सद्विती’ (शब्दनीति) इस व्याकरण ग्रन्थ ने पाली व्याकरण की तीसरी परम्परा स्थापित की। परम्परा की मान्यतानुसार यह ग्रन्थ बारहवीं शताब्दी (लगभग ईसवी ११५४) में लिखा गया। अगगवंस ब्रह्मदेश के अरिमढ़नपुर (आज का पगान गांव) का निवासी था तथा उस देश के राजा नरपतिसिथु का गुरु था। पदमाला, धातुमाला तथा सुत्तमाला (सूत्रमाला) इन तीन भागों में ‘सद्विती’ ग्रन्थ विभाजित है। अगगवंस ने कच्छायन तथा पाणिनी आदि के ग्रन्थों के आधार से अपने ग्रन्थ की रचना की। ‘धावत्थदीपनी’ इस पद्यबद्ध धातुसूचि में ‘सद्विती’ के अनुसार धातुओं का संकलन किया गया है। इस धातुसूचि का कर्ता अज्ञात है।

‘अभिधानप्पदीपिका’ तथा ‘एकक्खर कोस’ ये पाली के दो प्रसिद्ध शब्दकोश हैं। पहले कोश का कर्ता मोगल्लान है जो समभवतः वैयाकरण मोगल्लान से भिन्न है। संस्कृत की अमरकोश लिखने की पद्धति का अभिधानप्पदीपिका में स्वीकार किया गया है। इस में कुल तीन काण्ड हैं और पहले, सग्गकाण्ड (स्वर्ग काण्ड) में देवता, बुद्ध, शाक्यमुनि, देवन्योनी, इन्द्र, निर्वाण आदि शब्दों के विकल्प दिए गए हैं। भूकंड (भू काण्ड) में पृथ्वी आदि विषयों से संबंधित शब्द हैं और सामञ्जकंड (सामान्य काण्ड) में संकीर्णविषयक शब्दों के विकल्प संकलित किए गए हैं। इन तीन काण्डों के भी विभाग किए गए हैं। ग्रन्थ के अंतिम भाग में एकदूसरे के असदृश प्रतीत होनेवाले किन्तु एकार्थी शब्द दिए गए हैं।

‘एकक्खर कोस’ (पंद्रहवीं शताब्दी) ब्रह्मी भिक्षु सद्वम्मकित्ति (सद्वर्मकीति) की रचना है। एकाक्षरात्मक शब्दों की यह एक पद्यबद्ध सूचि है। पाली भाषा में ‘वृतोदय’ (वृत्तोदय, बारहवीं शताब्दी) यह छन्दशास्त्र संबंधी ग्रन्थ उल्लेखनीय है। इसका रचयिता स्थविर संघरक्षित ने ही ‘सुबोधालंकार’ इस काव्यशास्त्र संबंधी ग्रन्थ की रचना पाली भाषा में की है।

शौरसेनी प्राकृत

जिसके केन्द्रस्थान पर मथुरा थी वह ब्रजभूमि का प्रदेश प्राचीन काल में शूरसेन के नाम से जाना जाता था। ‘अंगुत्तरनिकाय’ इस बौद्ध ग्रन्थ के अनुसार शूरसेन यह उस समय के सोलह महा-जानपदों में महत्वपूर्ण जानपद हुआ करता था। शूरसेन जानपद राजनैतिक दृष्टि से तो सामर्थ्यशाली था ही किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से भी बहुत प्रगत था। कुरु-पांचाल में इस प्रदेश का समावेश किया जाता था। वैदिल लोगों का भारत में आगमन हुआ उस समय वे इसी प्रदेश में दीर्घ काल तक बसे और इसी कारण वैदिक भाषा शौरसेनी प्राकृत भाषा से अधिक प्रभावित हुई है। यादव कुल का प्रसिद्ध राजा शूरसेन से इस जानपद को यह नाम प्राप्त हुआ ऐसी पौराणिक मान्यता है। यादव कुल ने इस प्रदेश पर दीर्घ काल तक राज किया। इस जानपद की कई पंचमार्क मुद्राएं प्राप्त हुई हैं। इस भाग का पुरातत्वीय इतिहास ईसापूर्व कम से कम दो हजार वर्ष पीछे जाता है। आदर्श संस्कृत की रचना मुख्य रूप से मध्य प्रदेश की शौरसेनी प्राकृत भाषा के ही आधार से हुई और यही इस प्रदेश के लोगोंकी बोली भी थी तथा पश्चिम के प्रदेशों की हिन्दी भी इसी भाषा से विकसित हुई ऐसा वूल्नर ने सिद्ध किया है।¹¹

इस भाषा की प्रगल्भता तथा विकासाभिमुखता देखते हुए महाभारत एवं रामायण मूलतः इसी शौरसेनी प्राकृत भाषा में लिखे गए थे यह संभावना गहरी हो जाती है। इसके पश्चात उन्हें संस्कृत में अनुवादित किया गया। बाद के नाटकों में महिलाएं तथा विदूषक सामान्य रूप से शौरसेनी प्राकृत ही में बोलते दिखाए जाते हैं। ‘कर्पुरमंजरी’ जैसे नाटक में तो राजा भी शौरसेनी भाषा में संभाषण करता है। भास के नाटकों में भी मुख्य रूप से शौरसेनी ही का उपयोग किया गया है। सम्राट अशोक के कई शिलालेख इसी भाषा में हैं। किसी

समय मथुरा जैन धर्म का एक महत्वपूर्ण केन्द्र होने के कारण इस धर्म से संबंधित कई शिलालेख मथुरा में प्राप्त हुए हैं।

इस भाषा का प्राचीनतम नाटक अश्वघोष का लिखा है और वह त्रुटि अवस्था में प्राप्त हुआ है। इसका समय ईसवी की दूसरी शताब्दी है। तत्कालीन शौरसेनी तथा आंशिक रूप से मागधी एवं अर्धमागधी का प्रयोग प्रस्तुत नाटक में पाया जाता है। यहां यह भी समझना आवश्यक है कि, अश्वघोष संस्कृत का पहला कवी एवं नाटककार है।

दिग्म्बर जैनों का विपुल साहित्य शौरसेनी में होने के कारण इस साहित्य की भाषा को 'जैन शौरसेनी' भी कहा जाता है। पश्चिमी क्षेत्र की हिन्दी ही नहीं, बल्कि शूरसेन जानपद के व्यापक राजकीय प्रभाव के कारण आज की राजस्थानी, गुजराठी तथा पहाड़ी ये भाषाएं भी शौरसेनी प्राकृत ही से उत्पन्न हुई हैं ऐसी एक मान्यता है।¹²

शौरसेनी साहित्य

मराठी विश्व कोश के अनुसार शौरसेनी साहित्य निम्न प्रकार के हैं।

शौरसेनी भाषा के साहित्य के दो प्रकार हैं, धार्मिक और लौकिक। धार्मिक साहित्य में दिग्म्बर जैनों के धर्मग्रन्थ अन्तर्भूत हैं और उनकी शौरसेनी पर अर्धमागधी तथा माहाराष्ट्री भाषाओं के संस्कार होने के कारण उसे 'जैन शौरसेनी' कहा जाता है। लौकिक साहित्य में संस्कृत नाटक तथा प्राकृत सटुक (सुखात्मिका जैसा एक नाटक प्रकार) इन में पाई जानेवाली विशिष्ट पात्रों की बोली पाई जाती है, जिस में प्राकृत वैयाकरणों द्वारा बताए गए शौरसेनी भाषा के कुछ लक्षण मुख्य रूप से पाए जाते हैं।

पुरातन परम्परा के अनुसार दिग्म्बर जैन ग्रन्थों का चार भागों में वर्गीकरण किया जाता है। १. प्रथमानुयोग (पौराणिक साहित्य), २. करणानुयोग (जैन परम्परा का विश्वसंबंधी ज्ञान), ३. द्रव्यानुयोग (व्यापक अर्थ से दर्शनशास्त्र संबंधी) तथा ४. चरणानुयोग (आचार धर्म संबंधी ग्रन्थ)। इन चार वर्गों के विषय में संक्षिप्त जानकारी इस प्रकार है –

द्रव्यानुयोग - इस में दिग्म्बर जैनों का आगम साहित्य, आगमों पर की गई समीक्षा तथा आगमलक्ष्यी साहित्य का समावेश होता है।

दिग्म्बर जैन आचार्यों ने श्वेताम्बरों के अर्धमागधी भाषा में लिखे आगमों को प्रमाण नहीं माना है इस कारण दिग्म्बर मुनि परम्परा में मूल आगमों का जो स्मृतिशेष भाग था, उसे शौरसेनी भाषा में ग्रन्थबद्ध किया गया जैसे, पुष्पदन्त और भूतबली का पट्खण्डागम, आचार्य गुणधर का कसाय-पाहुड़ (कषायप्राभृत) आदि। स्मृतिशेष रहे ज्ञानप्रवाद नामक पूर्वग्रन्थ के 'पेज्ज-दोस-पाहुड़' (प्रेयोद्देष या प्रेयस-द्वेष प्राभृत) के आधार से कसाय-पाहुड़ की रचना किए जाने के कारण इसे 'पेज्ज-दोस-पाहुड़' कहा जाता है। कर्म बन्ध के कारक क्रोध, प्रतिष्ठा, माया तथा लोभ इन कषायों की चर्चा इस में की गई है। ग्रन्थ के कुल पंद्रह 'अधिकार' (विषय विभाग) हैं जिन में पहले आठ अधिकारों में संसार के कारक मोहनीय कर्मों का विचार किया गया है। शेष सात अधिकारों में आत्म-परिणामों के विकास से शिथिल होते मोहनीय कर्मों की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन है। शौरसेनी आगम पर कुन्दकुन्दाचार्य, यतिवृषभ, शामकुण्ड एवं समंतभद्र इत्यादि महान आचार्यों ने 'मणि प्रवाल' शैली में (संस्कृतमिश्रित शौरसेनी प्राकृत) समीक्षाएं लिखी हैं। इन में मूल विषय के स्पष्टीकरण के साथ ही अन्य आनुषंगिक लोकोपयोगी विषयों का भी परामर्श लिया गया है। पट्खण्डागम पर वीरसेन द्वारा लिखित 'धवला' (सन ८१६) तथा वीरसेन-जिनसेन इस गुरुशिष्य जोड़ी द्वारा कसाय-पाहुड़ पर लिखा गया ग्रन्थ 'जयधवला' (सन ८३७) इन समीक्षाओं में समाविष्ट हैं।

आगमलक्ष्यी साहित्य में कुन्दकुन्दाचार्य (ईसवी की पहली शताब्दी) ने महत्वपूर्ण ग्रन्थरचना की है तथा दिगम्बर जैन साम्प्रदायिकों को सिद्धान्त, कर्म एवं आचरण के संबंध में मार्गदर्शन किया है। समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय यह ग्रन्थत्रयी, साथ ही दसभक्ति (दश भक्ति), अट्टपाहुड़ (अष्टप्राभृत) ये उनके कुछ उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। कुछ लोगों के अनुसार 'अट्टपाहुड़' के कर्ता कुन्दकुन्दाचार्य अन्य कोई व्यक्ति थे। कुन्दकुन्दाचार्य के पश्चात जैन दर्शन को संगतिपूर्वक रूप से प्रस्तुत करनेवाले मीमांसक यानी नेमिचन्द्र (म्यारहवीं शताब्दी)। इन्होंने गोम्मटसार, त्रिलोकसार, लब्धिसार, क्षणपणसार तथा द्रव्यसंग्रह इन ग्रन्थों की रचना की। इन में 'गोम्मट सार' ग्रन्थ सब से लोकप्रिय एवं प्रभावशाली है। जीवकाण्ड (७३३ गाथाएं) और कर्मकाण्ड (९७२ गाथाएं) ऐसे इस ग्रन्थ के दो भाग हैं। जीवकाण्ड में महाकर्म-प्राभृत के जीव स्थान, क्षुद्र बंध, बंधस्वामी, वेदना खण्ड तथा वर्गणा खण्ड इन पांच सिद्धान्त विषयों का वर्णन किया गया है। कर्मकाण्ड में प्रकृतिसमुत्कीर्तन, बन्धोदयसत्त्व आदि कर्म की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। इसी ग्रन्थ पर नेमिचन्द्र कृत 'जीव प्रदीपिका' और अभयचन्द्र कृत 'मन्द प्रबोधिनी' ये संस्कृत में लिखी समीक्षाएं हैं तथा तोडरमल इस अभ्यासक द्वारा लिखी गई हिन्दी टीका (सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, १७६०) भी उपलब्ध है। 'गोम्मटसार' से संबद्ध 'लब्धिसार' ग्रन्थ (६४९ गाथाएं) में आत्मशुद्धिरूप 'लब्धि' प्राप्त करने का विधी बताया गया है। 'त्रिलोकसार' (१०१८ गाथाएं) में त्रैलोक्य के विषय में जैन पौराणिक कल्पनाओं का विवेचन है। 'क्षणपणसार' में कर्मक्षय करनेवाले विधी का विवेचन किया गया है और इसपर माध्यवचन्द्र त्रैविद ने (सन १२०३) संस्कृत टीका लिखी है। 'द्रव्यसंग्रह' (५८ गाथाएं) में जीव व अजीव तत्वों के विवेचन के माध्यम से जैन दर्शन संक्षेप में प्रस्तुत किया है।

षट्खण्डागम परम्परा के कर्मसिद्धान्त का दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है 'पंचसंग्रह' (पंचसंग्रह)। इसका काल एवं कर्ता निश्चित नहीं हैं। ग्रन्थ के पांच प्रकरणों में स्वतन्त्र मंगलाचरण तथा प्रतिज्ञा होने के कारण संभव है मूलतः ये स्वतन्त्र ग्रन्थ रहे होंगे। इनपर प्रभाचन्द्रयती (सोलहवीं शताब्दी) द्वारा लिखी गई संस्कृत समीक्षा उपलब्ध है। शिवशर्मा या शिवर्शर्म कृत 'कम्मपयड़ि' (कर्म प्रकृति, ४१५ गाथाएं) इस ग्रन्थ में कर्म सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है और इसपर मलयगिरी की समीक्षा भी उपलब्ध है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त कर्म सिद्धान्त के विभिन्न भागों पर अति संक्षिप्त किन्तु सुव्यवस्थित रचना से युक्त छह प्राचीन कर्म ग्रन्थ उपलब्ध हैं – १. शतक (कर्ता शिवशर्मा), २. कम्मविवाग (कर्मविपाक – कर्ता गर्गर्षी), ३. सडसीइ (षडशीती – कर्ता जिनवल्लभगणि), ४. कम्मत्यव (कर्म स्तव – कर्ता अज्ञात), ५. बन्धसामित्त (बन्ध स्वामित्व) और ६. सत्तरी (सप्ततिका)। इन ग्रन्थों पर अनेक चूर्णि, भाष्य तथा वृत्ति आदि उपलब्ध हैं। 'जीवसमाप्ति' (२८६ गाथाएं) इस ग्रन्थ में एक प्राचीन और अज्ञात ग्रन्थकार ने जीवादि द्रव्यों का विवेचन किया है, जिसपर मलधारी हेमचन्द्र में ७,००० श्लोकों की बृहदवृत्ति लिखी है (ईसवी ११०७)। देवेन्द्रसूरी (ईसवी की तेरहवीं शताब्दी) ने कर्म सिद्धान्त पर कर्म विपाक (६० गाथाएं), कर्म स्तव (३४ गाथाएं), बन्ध स्वामित्व (२४ गाथाएं), षडशीती (८६ गाथाएं) तथा शतक (१०० गाथाएं) ये पांच प्रकरण लिखे हैं, जो 'नया कर्म ग्रन्थ' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

चरणानुयोग - इस शीर्षक से प्रसिद्ध आचार धर्मपर ग्रन्थों में, कुन्दकुन्दाचार्य लिखित णियमसार (णियमसार-८७ गाथाएं), अट्टपाहुड़, दसभक्ति बारस अणुवेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा) इन प्रकरणों का अन्तर्भाव होता है। 'रयणसार' (रत्नसार-१६७ गाथाएं) यह एक और ग्रन्थ कुन्दकुन्दाचार्य के नाम से उपलब्ध है।

वट्केराचार्य कृत 'मूलाचार' (१,२५२ गाथाएं) दिगम्बर मुनि धर्म पर लिखा गया सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। मुनियों के आचरण के लिए आवश्यक महावत, समिति, केशलुंच, अचेलकत्व (नग्रता), अस्त्रान आदि अट्टाईस गुणों का सविस्तार वर्णन इस में पाया जाता है। मुनि धर्म पर शिवार्य कृत 'आराधना' यह एक और महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इससे प्रेरित हो कर बाद में अनेक आराधना ग्रन्थ निर्माण हुए। स्वामिकुमार या कार्तिकेय लिखित 'कर्तिगेयाणुवेक्खा' (कार्तिकेयाणुप्रेक्षा-४८९ गाथाएं) ग्रन्थ में अध्युव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व,

आत्मव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ तथा धर्म इन बारह अनुप्रेक्षाओं के सविस्तार वर्णन पाए जाते हैं। इस में अंत में बारह तपों के विषय में भी लिखा गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ पर शुभचन्द्र ने (सन १५५६) संस्कृत में समीक्षा लिखी है।

करणानुयोग - दिग्म्बर जैनों की विश्वसंबंधी पौराणिक कल्पना प्रस्तुत करनेवाला साहित्य विभाग ‘करणानुयोग’ नाम से जाना जाता है। इस का पहला ग्रन्थ ‘लोक विभाग’ अब लुप्त हो चुका है किन्तु ग्रन्थ का सिंहसूरी द्वारा किया गया संस्कृत संक्षेप उपलब्ध है। इसी विभाग में यतिवृषभ कृत भूगोल-खगोल संबंध ग्रन्थ ‘तिलोयपण्णति’ (त्रिलोकप्रज्ञसि, पांचवीं से सातवीं शताब्दी) प्रसिद्ध है। पद्मनन्दी कृत ‘जंबुद्वीवपन्नति’ इस ग्रन्थ में भौगोलिक जानकारी के साथ महावीरपश्चात आचार्यों का इतिहास भी दिया गया है।

माहाराष्ट्री प्राकृत

प्राकृत भाषाओं में माहाराष्ट्री प्राकृत भाषा का आत्यंतिक महत्व है। इस भाषा के शिलालेखीय तथा मुद्रा रूप प्रमाण ईसापूर्व तीसरी शताब्दी से प्राप्त हुए। ईसापूर्व पहली शताब्दी में संकलित मुक्तक संग्रह ‘गाथा सप्तशति’ तथा ईसवी की पहली शताब्दी में लिखा गया ‘अंगविज्ज’ यह गद्य ग्रन्थ प्राचीन माहाराष्ट्री का तत्कालीन रूप दर्शाते हैं। लेखक दण्डी भी अपने ‘काव्यादर्श’ में माहाराष्ट्री भाषा के सौन्दर्य की प्रशंसा करते नहीं थकता। वह कहता है,

महाराष्ट्राश्रयां भाषा प्रकृष्टं प्राकृतं विदु।

सागर सुक्तिरत्नाना सेतुबंधादि यन्मयम्॥

(अर्थात्, प्राकृत भाषाओं में उत्कृष्ट भाषा महाराष्ट्र में पायी जाती है, जो समुद्र में रत्नों के सेतुबंध समान सुन्दर है।)

यह भाषा गीतरचना के लिए उत्कृष्ट मानी जाने के कारण संस्कृत की पद्यरचनाएं भी माहाराष्ट्री प्राकृत में ही हो, इस संकेत का नाटककारों ने पालन किया देखा जाता है। इस भाषा के सुन्दर नमूने सातवाहनों के अनगिनत शिलालेखों में उपस्थित हैं। आज की मराठी भाषा के साथ नाभिरज्जु संबंध जोड़नेवाले अगणित शब्दप्रयोग ‘गाथा सप्तशति’ (गाहा सतसई), ‘अंगविज्जा’ तथा शिलालेखों में पाए जाते हैं। ईसापूर्व तीसरी शताब्दी में लिखे गए वररूची कृत प्राकृत व्याकरण ग्रन्थ में मुख रूप से माहाराष्ट्री ही का व्याकरण दिया गया है। आज इस व्याकरण पर भामह द्वारा लिखी गई समीक्षा ही केवल उपलब्ध है। मूल व्याकरण ग्रन्थ अप्राप्य है।

तुह मुहसारिच्छं ण लहै त्ति संपुण्णमण्डलो विहिणा।

आणामां व्व घडइउं वि खण्डज्जइ मिअंको...॥ (गाहा सतसई)

अर्थात्, पौर्णिमा का पूर्ण चन्द्र भी तुम्हारे रूप से प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकता इसलिए क्रोधित विधाता इस चन्द्र के टुकड़े कर रहा है, ताकि वह एक नया चन्द्र बना सके।

मराठी भाषा ने काव्य को एक प्रतिभाशाली शिखर पह पहुंचाया है और इस कारण मराठी प्रधान रूप से काव्य की भाषा थी यह जानकारी मराठी जनों को आज चौंका देगी इस में कोई सन्देह नहीं।

हाल सातवाहन की ‘गाथा सतसई’ ने संपूर्ण भारत के रसिकों का मन तो मोह लिया ही किन्तु इसी धर्ती पर अनेक गाथाएं लिखने की प्रेरणा भी प्रदान की है। माहाराष्ट्री प्राकृत का सशक्त प्रवाह आज की मराठी तक बहता आया है।

जे. ब्लाख ने १९१४ में लिखी अपनी पुस्तक ‘फॉर्मेशन ऑफ मराठी लैन्वेज’ में महत्वपूर्ण निरीक्षण अभिलेखित किए हैं। संक्षेप में वे कुछ ऐसे हैं - “मराठी भाषा सीधे-सीधे माहाराष्ट्री प्राकृत के साथ नाता जताती

है। मराठी का ध्वनिशास्त्र पेचीदा तथा अन्य प्राकृत भाषाओं से स्वतन्त्र है (पृ. ४५)। सातवाहन काल में स्थानीय प्राकृत भाषा, राजभाषा एवं साहित्यभाषा बनी और उन्नत हुई। भारत में कोई भी भाषा किसी पर लादी जाने का भाषावैज्ञानिक उदाहरण नहीं मिलता (पृ. ४४)।¹³ यहां ब्लाख द्वारा दिए गए केवल दो ही उदाहरण उधृत किए गए हैं किन्तु वे आज की मराठी भाषा के स्वतन्त्र वास्तव पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त हैं।

माहाराष्ट्री भाषा साहित्य निर्मिति में भी एक वरिष्ठ भाषा रही है। शौरसेनी एवं अर्धमागधी की तरह जैनों ने माहाराष्ट्री भाषा में भी साहित्य निर्माण कर इस भाषा में मूल्यवान् वृद्धि की है। यह मुद्दा निम्न जानकारी से अधिक स्पष्ट होगा। यह जानकारी मराठी विश्व कोश से ली गई है।

माहाराष्ट्री साहित्य

महाकाव्य, खण्ड काव्य, चरित काव्य, मुक्तक काव्य, स्तोत्र, गद्य चरित्र ऐसा विभिन्न प्रकार का साहित्य माहाराष्ट्री भाषा में निर्माण हुआ है। हेमचन्द्रादि प्राकृत वैयाकरण जैन माहाराष्ट्री को स्वतन्त्र भाषा न मानकर उसे माहाराष्ट्री ही मानते थे, इस कारण यहां जैन माहाराष्ट्री साहित्य का परामर्श लिया गया है। जैन माहाराष्ट्री पर आंशिक रूप से अर्धमागधी लक्षणों का प्रभाव है, किन्तु उसका बीज माहाराष्ट्री ही है। जैनों ने माहाराष्ट्री प्राकृत में मूल्यवान् वृद्धि की है।

महाकाव्य

प्रवरसेन (पांचवीं शताब्दी) रचित ‘सेतुबंध’ इस महाकाव्य का विषय वानर सेना ने लंका पर चढ़ाई करने हेतु समुद्र में निर्माण किया हुआ सेतु तथा राम द्वारा रावण का वध है। यह महाकाव्य ‘रावण-वध’ या ‘दशमुख-वध’ के नाम से भी प्रसिद्ध है। माहाराष्ट्री के सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य के रूप में ‘सेतुबंध’ का गौरव किया जाता है।

इसके पश्चात् ‘गउडवहो’ (रचना सन ७३८ के आसपास), ‘लीलावई’ (आठवीं शताब्दी), ‘कुमारपालचरिय’ (बारहवीं शताब्दी) और ‘गोविंदाभिषेक’ (तेरहवीं शताब्दी) ये काव्य उल्लेखनीय हैं। वाक्पतिराज रचित ‘गउडवहो’ में कनौज के राजा यशोवर्मन का दिग्विजय तथा उसके द्वारा की गई गौड़ राजा के वध का वर्णन है। ‘लीलावई’ का रचयिता कोउहल (कौतुहल) है। प्रतिष्ठान नगरी का राजा सातवाहन तथा सिंहल देश की राजकुमारी लीलावती इनकी प्रेमकथा का वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है। व्याकरण, कोश, अलंकार, छंद आदि विषयों पर लेखन करनेवाले हेमचन्द्र ने ‘कुमारपालचरिया’ (कुमारपालचरित) की रचना की है। इसे द्वाश्रय काव्य भी कहा जाता है। इस काव्य के लेखन द्वारा हेमचन्द्र ने दो उद्देश्य पूर्ण किए, अपने ‘सिद्धहेम’ इस व्याकरण ग्रन्थ के नियम स्पष्ट करना तथा जैन धर्मोपासक राजा कुमारपाल का चरित्र कथन करना। इस ग्रन्थ के दो भाग हैं। पहले (संस्कृत) भाग में ‘सिद्धहेम’ के संस्कृत व्याकरण के नियम समझाते हुए सोलंकी राजवंश के मूलराज से ले कर कुमारपाल तक के राजाओं का इतिहास कथन किया गया है तथा दूसरे भाग में प्राकृत व्याकरण के नियमों को स्पष्ट करते हुए राजा कुमारपाल के युद्ध आदि का वर्णन किया गया है।

वररूची का ‘प्राकृत प्रकाश’ तथा त्रिविक्रम का ‘प्राकृत व्याकरण’ इन दो ग्रन्थों में दिए गए नियमों के विवेचनार्थ ‘गोविंदाभिषेक’ ग्रन्थ की रचना की गई। इस काव्य के प्रत्येक सर्ग के अंत में ‘श्री’ कार होने के कारण इसे सिरिचिंधकव्व (श्री चिन्ह काव्य) कहा जाता है। इस काव्य के कुल बारह सर्ग हैं, जिन में पहले आठ सर्गों की रचना केरलवासी कवी कृष्णलीला शुक ने की है। इस कवी को सर्वभौम तथा कोदण्डमंगल इन नामों से भी जाना जाता था। ‘गोविंदाभिषेक’ के शेष चार सर्ग दुर्गप्रसाद नामक कवी द्वारा रचित हैं। इसके अतिरिक्त, कवी श्रीकण्ठ कृत श्रीकृष्णचरित पर आधारित ‘सोरीचरित’ (शौरीचरित – सन १७०० के आसपास) काव्य अपूर्णावस्था में उपलब्ध है (केवल चार आश्वास उपलब्ध हैं)। श्रीकण्ठ राजा केरलवर्मा के दरबार का पंडित था।

कुछ अभ्यासकों के मत से श्रीकण्ठ का काल पंद्रहवीं शताब्दी का प्रथमार्थ है। ग्रन्थ में श्रीकण्ठ का काव्यचातुर्य कई स्थानों पर दिखाई देता है।

खण्ड काव्य

माहाराष्ट्री में 'कंसवहो' (कंस वध) और 'उसणिरुद्ध' (उषा-अनिरुद्ध) ये दो उल्लेखनीय खण्ड काव्य रचे गए और उनके रचयिता केरलीय कवी रामपाणिवाद (सत्रहवीं शताब्दी) हैं। श्रीमद्भागवत पर आधारित 'कंसवहो' के चार सर्ग तथा २२३ पद्य हैं। 'उसणिरुद्ध' के भी चार सर्ग हैं और यह कथा भी श्रीमद्भागवत ही से ली गई है।

चरित काव्य तथा गद्य-पद्य मिश्रित चरित

जैन पुराणों में जैन कवियों ने अपने धर्ममत के प्रसार हेतु महापुरुषों के चरित काव्य रचे और कुछ चरित काव्य कल्पित पात्रों पर भी रचे। विमलसूरि (ईसवी की पहली से चौथी शताब्दी तक किसी समय हुए) ने 'पउमचरिय' यह श्रीराम चरित्र लिखा। तथापि वाल्मिकी रामायण कई विपरीत एवं असंभवनीय प्रसंगों से भरपूर है इस भूमिका के साथ विमलसूरी ने जैन मतानुसार अपनी रामकथा रची है। इस रामकथा में रावण जिनेन्द्र का भक्त है तथा अग्निदिव्य से बाहर निकलनेपर सीता ने जैन धर्म स्वीकार किया ऐसा दर्शाया है।

धनेश्वर इस लेखक ने 'सुरसुन्दरीचरिय' (ग्यारहवीं शताब्दी) रचा, जिस में १६ परिच्छेद हैं तथा प्रत्येक परिच्छेद में २५० पद्य हैं। यह एक प्रदीर्घ प्रेमकथा है। इसी प्रकार चन्द्रप्रभ महत्तर ने 'सिरि विजयचन्द्र केवलिचरिय' (संस्कृत नाम श्रीविजयचन्द्र केवलीचरित, ग्यारहवीं शताब्दी) नामक ग्रन्थ की रचना की जिस में पूजा के अष्टविध द्रव्यों पर आठ कथाएं हैं। इस में पृष्ठभूमि के लिए केवली का अल्प चरित्र दिया गया है। वर्धमानसूरी रचित 'आदिनाहचरिय' (आदिनाथ चरित्र, ग्यारहवीं शताब्दी), हेमचन्द्र के गुरु देव सूरी रचित 'संतिनाहचरिय' (शांतिनाथ चरित्र), मलधारी हेमचन्द्र रचित 'नमिनाहचरिय' (नेमिनाथ चरित्र), उसका शिष्य श्रीचन्द्रसूरी रचित 'मुणिसुव्ययसामिचरिय' (मुनि सुव्रत स्वामिचरित), श्रीचन्द्रसूरी का गुरुबंधू लक्ष्मणगणी रचित 'सुपासनाहचरिय' (सुपार्श्वनाथ चरित्र, बारहवीं शताब्दी), श्रीचन्द्रसूरी के शिष्य वाटगच्छीय हरिभद्र रचित 'चन्दपपहचरिय' (चन्द्रप्रभ चरित्र), 'मल्लीनाहचरिय' (मल्लिनाथ चरित्र) एवं 'नेमिनाहचरिय' (नेमिनाथ चरित्र), सोमप्रभसूरी रचित 'सुमतिनाहचरिय' (सुमतिनाथ चरित्र) और मुनिभद्र रचित 'संतिनाहचरिय' (शांतिनाथ चरित्र) इत्यादि अन्य चरित्र काव्य भी उल्लेखनीय हैं।

इन चरित काव्यों का एक ढांचा है। इन में चरित्रनायक के पूर्वजन्म का वर्णन, उपाख्यान तथा धार्मिक प्रवचन, नायक का चरित्र वर्णन (नायक की जन्म नगर की सुन्दरता, उसके मातापिता का वैभव, जन्मादी पंचकल्याण, नायक की कठोर तपस्या, केवलज्ञानोत्पत्ति, समवशरणरचना, धर्मोपदेश, देशविहार तथा निर्वाण) इन सब का समावेश है।

गद्य-पद्य मिश्रित भी कुछ चरित हैं। शीलांकाचार्य या शीलाचार्य ने 'चउपन्न महापुरिस चरियत' (नौवीं शताब्दी) में चब्बन शलाका महापुरुषों का जीवन वर्णन किया है। जैन परम्परा के अंतिम केवली (केवलज्ञान प्राप्त मुनि) जम्बूस्वामी का चरित्र 'जम्बूचरिय' में कथन किया गया है। इस ग्रन्थ की भाषा प्रवाही है और इस में समय-समय पर संस्कृत क्षोक भी उधृत किए गए हैं तथा कई पद्यरचनाएं अवहट्ट भाषा में लिखी गई हैं जिनपर गुजरात के नागर अपभ्रंश भाषा का प्रभाव दिखाई देता है। गुणचन्द्र लिखित 'महावीरचरिय' के आठ प्रस्ताव हैं। इन में समय-समय पर संस्कृत क्षोक भी उधृत किए गए हैं तथा कई पद्यरचनाएं अवहट्ट भाषा में लिखी गई हैं जिनपर गुजरात के नागर अपभ्रंश भाषा का प्रभाव दिखाई देता है। गुणचन्द्र ने ही 'पासनाहचरिय' (पार्श्वनाथ चरित्र) की रचना की है। नेमिचन्द्र रचित 'रयणचूड रायचरिय' (रत्नचूड़राजचरित, बारहवीं शताब्दी) संस्कृत से प्रभावित है। बृहदगच्छीय नेमिचन्द्र ने भगवान महावीर का केवलज्ञानप्राप्ति तक का एक चरित्र लिखा है (महावीरचरिय, ग्यारहवीं शताब्दी)। यह चरित्र पद्यमय है।

मुक्तक

एक क्षोक की स्वतन्त्र रचना यानी मुक्तक। इस मुक्तक रचना की विरासत बतानेवाले दो संग्रह माहाराष्ट्री भाषा में पाए जाते हैं। एक 'गाहा सत्तसई' और दूसरा 'वज्जामगलग्ग'। गाहा (गाथा) इस नाम से पहचानी जानेवाली 'गाहा सत्तसई' के गीत, सातवाहन राजा हाल (ईसापूर्व पहली शताब्दी) द्वारा संकलित किए गए हैं। उसने स्वयं रची कुछ गाथाएं भी इस में अंतर्भूत हैं। प्रत्येक गाथा में स्वयंपूर्ण कल्पना है और वह सोचे-समझे एवं सूचक शब्दों में प्रस्तुत की गई है। विभिन्न प्रकार की स्थियों की मनःस्थितीयों का, प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं का, सुन्दर परिदृश्यों का, मदनोत्सव जैसे विशेष प्रसंगों का चित्रण इन गाथाओं में किया गया है। 'वज्जामगलग्ग' का संकलन जयवल्लभ ने किया है। एक ही विषय पर लिखी गई अनेक गाथाएं संग्रहित की जाती हैं, तो उस संकलन को 'वज्जामगलग्ग' कहा जाता है। 'वज्जा' का अर्थ 'पद्धति' ऐसा स्पष्टीकरण इस ग्रन्थ में दिया गया है। सज्जन, दुर्जन, भाग्य, दरिद्रता, गज, सिंह, भ्रमर, प्रेम, ज्योतिषी, लेखक, वैद्य, वेश्या ऐसे कुल ९५ विषयों पर लिखी गाथाएं 'वज्जामगलग्ग' में हैं।

स्तोत्र

संस्कृत के स्तोत्र-साहित्य के समान माहाराष्ट्री का स्तोत्र-साहित्य भी भक्ति से प्रचुर है तथा भाषा शैली एवं विचारों की दृष्टि से सुन्दर है। यह स्तोत्र परम्परा सन १००० पूर्व की दिखाई देती है। कवी योगीन्द्र देव अथवा योगींदु अथवा जोइंदु कृत 'निजात्माष्टक', नंदिषेण (नौवीं शताब्दी) का 'अजियसंतिथव' (अजितशांतिस्तव), भद्रबाहू रचित 'उवसग्गहर' (उपसर्गहर), देवेन्द्रसूरी का 'शाश्वत चैत्यास्तव', दिग्म्बर जैनों का प्रमाणभूत स्तोत्र 'निर्वाण काण्ड' ऐसे कई स्तोत्र हैं। 'निजात्माष्टक' कर्ता जोइंदु यदि 'परमप्यासूचि' का रचयिता जोइंदु ही है, तो सन ६०० से १००० यह इस स्तोत्र का समय है, संभव है। इस में आठ गाथाएं हैं। 'अजियसंतिथव' में भिन्न-भिन्न २५ छंदों की योजना की गई है। 'उवसग्गहर' स्तोत्र पार्वनाथ की स्तुतिपर है और इसके पठन से सभी आधि-व्याधियां दूर हो कर सुखप्राप्ति होती है, ऐसी मान्यता है। 'शाश्वत चैत्यास्तव' में जैनों की भूगोल संबंधी कल्पनाएं ग्रन्थित की गई हैं। 'निर्वाण काण्ड' में जैनों के तीर्थ स्थानों की सूचि दी गई है। इनके अतिरिक्त धनपाल (दसवीं शताब्दी) रचित 'ऋषभपंचाशिका' तथा जिनवल्लभसूरी रचित 'लघु अजितसंतिथव' (लघुजितशांतिस्तव) इन स्तोत्रों का उल्लेख करना आवश्यक है। 'ऋषभपंचाशिका' में ऋषभनाथ की स्तुति है तथा 'लघु अजितसंतिथव' अपने नाम के अनुसार लघु है, जिस में १७ गाथाएं हैं।

अन्य पद्म साहित्य

संस्कृत नाटकों तथा प्राकृत सट्टकों में माहाराष्ट्री पद्मरचनाएं हैं। रस एवं अलंकारों के उदाहरण के रूप में संस्कृत साहित्य शास्त्र के ग्रन्थों में अनेक माहाराष्ट्री गाथाएं उधृत की गई हैं। इन में से कई गाथाओं के रचयिता अज्ञात हैं। आनंदवर्धन रचित 'ध्वन्यालोक', भोज रचित 'सरस्वतिकण्ठाभरण', हेमचन्द्र कृत 'काव्यानुशासन' आदि ग्रन्थों में माहाराष्ट्री गाथाएं पाई जाती हैं। कई माहाराष्ट्री गाथाएं जनसामान्य की भावनाओं को व्यक्त करती हैं, इस कारण उनमें कुछ खुली असभ्यता भी है।

माहाराष्ट्री का श्रेष्ठ चंपू काव्य यानी 'कुवलयमाला' (सन ७७९) है। उद्योतनसूरी कृत इस चंपू काव्य में क्रोधादि विकारों के परिणाम दर्शनेवाली कथाएं रची गई हैं।

कथा साहित्य (गद्य-पद्म)

माहाराष्ट्री का गद्य साहित्य मुख्य रूप से कथनस्वरूप है। इस कथा साहित्य के पीछे प्रमुख प्रेरणा धर्मप्रसार की है। पादलिस्तसूरी (पांचवीं शताब्दी से पूर्व) कृत 'सरगवइकहा' (तरंगवतीकथा) यह कुल प्राकृत

साहित्य की सब से प्राचीन धर्मकथा माहाराष्ट्री भाषा में लिखी है। यह कथा आज यद्यपि उसके मूल रूप में उपलब्ध नहीं है, 'तरंगलोला' नामक उसका एक संक्षेप उपलब्ध है। इससे मूल कथा का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है तथा वह एक वैराग्य प्रवर्तक प्रेमकथा थी, यह ज्ञान होता है।

'वसुदेवहिंडी' यह कथा संग्रह भी उल्लेखनीय है। इस शीर्षक का अर्थ है कृष्णपिता वसुदेव का भ्रमण (हिंडी)। इस भ्रमण की कथा के अन्तर्गत अन्य कई कथाएँ हैं। मुख्य रूप से गद्यात्मक समासान्त पदावली में लिखी गई यह एक वैशिष्ट्यपूर्ण रचना है जिसमें कहीं-कहीं पद्यरचना का भी प्रयोग किया गया है। गुणाद्य कृत 'बुडुकहा' (बृहत्कथा) इस कथा संग्रह की तुलना 'वसुदेवहिंडी' के साथ की जाती है। इस ग्रन्थ के दो खण्ड हैं। पहले खण्ड का कर्ता संघदासगणी वाचक, तो दूसरे का धर्मसेनगणी है। ईसकी की पांचवीं शताब्दी यह संघदासगणी वाचक का समय होगा ऐसा माना जाता है। किन्तु महाभारत में जो नहीं हैं ऐसी कथाएँ भी इस में होने के कारण 'वसुदेवहिंडी' का लेखनसमय महाभारत के भी पूर्व रहा होगा, संभव है।

हरिभद्र (आठवीं शताब्दी) कृत 'धृत्तक्ष्वाण' (धूर्ताद्यान) ब्राह्मणी पुराणों का व्यंगात्मक उपहास करने हेतु लिखा गया है। इसी हरिभद्र ने 'समराइच्छकहा' (समरादित्यकथा) नामक एक धर्मकथा भी रची है। इस कथा ग्रन्थ का पद्य भाग आर्या छन्द में लिखा गया है।

श्रेताम्बर आचार्य जिनेश्वरसूरी ने सन १०५२ में 'कहाणयकोस' (कथा कोष प्रकरण) ग्रन्थ की रचना की। इस में ३० गाथाएँ हैं तथा उनकी समीक्षा में ३६ मुख्य तथा ४५ अतिरिक्त कथाएँ हैं। इस ग्रन्थ की कथाओं से तत्कालीन समाज, आचार-विचार तथा राजनीति आदी का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है।

संवेगभाव का प्रतिपादन करने के लिए जिनचन्द्रसूरी ने सन ११६८ में 'संवेगरंगसाला' (संवेगरंगशाला) यह कथात्मक ग्रन्थ लिखा। महेश्वरसूरी ने 'गाणपंचमीकहा' (ज्ञानपंचमी कथा) इस ग्रन्थ में ज्ञानपंचमी (कार्तिक शु. पंचमी) का माहात्म्य वर्णन करनेवाली दस कथाएँ लिखी, जो २,००० गाथाओं में बुनी गई हैं। देवभद्रसूरी ने 'कहारयणकोस' (कथारत कोश) की रचना की (सन ११०१)। इस में कई लौकिक कथाएँ समाविष्ट हैं। कुल पचास गद्य एवं पद्य कथाएँ इस में हैं और अपभ्रंश भाषा का भी प्रयोग इस में किया गया है।

नेमिचन्द्रसूरी ने 'अक्खाणमणिकोस' (आख्यानमणि कोश) की रचना की। यह भी कथा ग्रन्थ ही है। पद्यचन्द्रसूरी के एक अनाम शिष्य ने 'विक्कमसेणचरिय' (विक्रमसेन चरित) नामक कथा ग्रन्थ की रचना ही थी। इस की चौदह कथाओं में से बारह कथाएँ 'पाइअकहासंगह' (प्राकृत कथा संग्रह) में समाविष्ट हैं। इस संग्रह में दानशीलता, तप, भावना, सभ्यकल्प, अनित्यता आदि विषयों से संबंधित कथाएँ हैं।

सन ११३० में महेन्द्रसूरी ने 'नर्मदासुन्दरीकहा' (नर्मदासुन्दरी कथा) की रचना की। यह कथा गद्य तथा पद्यमय है और इस में पद्य भाग अधिक है। विदेश में कपट से वेश्यागृह में लाई गई नर्मदासुन्दरी नामक विवाहित स्त्री की यह कथा है। अपने शील का रक्षण करने के लिए नर्मदासुन्दरी ने जिन यातनाओं का सामना किया तथा अपना निग्रह दर्शाया, इसका प्रभावी चित्रण प्रस्तुत कथा में है।

सौमप्रभसूरी ने सन ११८४ में 'कुमारवालपडिबोह' (कुमारपाल प्रतिबोध) ग्रन्थ रचा। हेमचन्द्र ने गुजरात का राजा कुमारपाल इसे धर्मबोध कराने हेतु जो कथाएँ कथन की, उसकी पृष्ठभूमि पर सौमप्रभसूरी ने कुल ५४ कथाएँ रची हैं। इस ग्रन्थ का कुछ भाग संस्कृत तो कुछ अपभ्रंश भाषा में लिखा है। सुमतिसूरी का गद्य एवं पद्यात्मक 'जिनदत्ताद्यान' भी उल्लेखनीय ग्रन्थ है। जिनदत्त नामक नायक की यह कथा है। वह चार स्त्रियों के साथ विवाह करता है, जीवन में विभिन्न प्रकार के अनुभव प्राप्त करता है और अंत में दीक्षा ग्रहण करता है। चौदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दी में भी माहाराष्ट्री प्राकृत भाषा में कथारचना की जाती थी। जैसे, रत्नशेखरसूरी कृत 'सिरिवालकहा' (श्रीपाल कथा) और जिनहर्षगणी कृत 'रयणसेहरीकहा' (रत्नशेखरी कथा)। इन दो ग्रन्थों में पहला ग्रन्थ चौदहवीं तथा दूसरा पंद्रहवीं शताब्दी में लिखा गया। श्रीपाल कथा में कुल १,३४२ पद्यरचनाएँ हैं और वे मुख्य रूप से आर्या छन्द में रची गई हैं। श्रीपाल की कथा द्वारा सिद्धचक्र का माहात्म्य वर्णन किया गया है। पर्व एवं तिथी का माहात्म्य रत्नशेखरी कथा में वर्णन किया गया है। यह ग्रन्थ गद्य-पद्यमय है।

माहाराष्ट्री प्राकृत के अनगिनत ग्रन्थ अभी सामने आए नहीं हैं या प्रसिद्ध हुए नहीं हैं। तन्त्र साहित्य सभी प्राकृत भाषाओं में विपुल मात्रा में लिखा गया किन्तु उसकी खोज के लिए विशेष प्रयास नहीं किए गए हैं। डा. रा. चि. ढेरे ने महाराष्ट्रीय संत विसोबा खेचर के 'छटस्थली' ग्रन्थ की खोज की और उसे प्रसिद्ध किया। ऐसे कई ग्रन्थ अभी तक रोशनी की प्रतीक्षा में हैं। 'अंगविज्ज' यह ईसवी की पहली शताब्दी में रचा माहाराष्ट्री भाषा का ग्रन्थ उल्लेखनीय है तथा कुशाणकालीन समाज जीवन इस में प्रखरता से सामने आने के कारण वह एक अभ्यासनीय ग्रन्थ कहा जा सकता है।

ऊपरोक्त अधिकांश जानकारी यद्यपि हमने मराठी विश्व कोश से ली है, उसमें उचित स्थानों पर उचित संशोधन भी किया है।

गान्धारी प्राकृत

महाजानपद समय में गान्धार यह एक महत्वपूर्ण जानपद था। 'अंगुतरनिकाय' ग्रन्थ में जानपद के रूप में गान्धार का प्रथम उल्लेख मिलता है। यह प्रदेश पैशाची भाषा बोलनेवाले प्रदेश का निकटवर्ती है तथा तक्षशीला एवं पेशावर इस प्रदेश के मध्यवर्ती नगर हैं और कंदाहार (गान्धार का अपभ्रंशित नाम) भी इसी प्रदेश का भाग था। सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि, आज के पूर्व अफगानिस्थान तथा पश्चिम पाकिस्तान को मिलाकर यह भाषा-प्रांत बनता था।

यहां की प्राकृत भाषा भी वैशिष्ट्यपूर्ण है जिस पर निकट के ईरान (पर्शिया) की भाषा का भी आंशिक प्रभाव है। पर्शियन भाषा से लिए हुए शब्द मुख्य रूप से प्रशासन से संबंधित हैं। अलेक्जांडर का आक्रमण प्रथम इसी प्रदेश में होने के कारण बहुत समय तक यह प्रदेश ग्रीस राज्य का उपनिवेश रहा और इसी कारण यहां की भाषा में कई ग्रीक शब्द भी प्रविष्ट हुए। इसके पश्चात यहां कई विदेशी राज्यकर्ताओं ने राज किया। आरंभिक काल में पेशावर कुशाणों की राजधानी रहा। उनकी राजभाषा गान्धारी थी ही किन्तु कई महत्वपूर्ण व्यापारी मार्ग गान्धार ही से गुजरने के कारण यही उनकी व्यवसायिक भाषा भी रही। तत्कालीन (ईसापूर्व चौथी शताब्दी) व्यापारी एवं व्यवसायिक श्रेणियों द्वारा जारी की गई मुद्राओं पर भी गान्धारी भाषा में लिखित विषय वस्तु है।

इसी भाषा में लिखे सम्राट अशोक के भी शिलालेख भी उपलब्ध हैं। गान्धार प्रदेश बौद्ध धर्म का मुख्य केन्द्र बनने के कारण वैशिष्ट्यपूर्ण गान्धारी भाषा में लिखा साहित्य भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। बौद्धों के ही कारण इस भाषा का प्रसार तोखारीस्तान से तारीम घाटी स्थित चिनी तुर्कमेनिस्तान तक हुआ और अधिकांश राजा बौद्ध होने के कारण वहां की राजभाषा भी गान्धारी प्राकृत ही रही।

विख्यात अनुसंधानकर्ता सर ऑरेल स्टीन ने सन १९०१ में अलंध्य हिमालय लांघकर खोतान नामक शीत मरुभूमि के निया स्थित प्राचीन बस्ती के अवशेषों में खोज की। वहां उन्हें खरोष्टी लिपि में विषय वस्तु उकेरे सैकड़ों काष्ठ पटल प्राप्त हुए। इस भाग के सामंत तथा खोतान का राजदरबार इनके बीच ईसवी की पहली से तीसरी शताब्दी इस समयावधि में हुआ सन्देशवहन इन पटलों पर उकेरा गया है। इस विषय वस्तु की शुरुआत में 'महानुराय लिहती ...' इन शब्दों से होती है, जो आज की मराठी के निकट जाते हैं।

इन पटलों की भाषा यद्यपि गान्धारी प्राकृत है, गान्धार तथा चिनी तुर्कमेनिस्तान में बसे बौद्धों में भारत के कई प्रांतों से आए भिक्खु होने के कारण तथा स्थानीय बौद्धों की भी भाषा के कुछ संस्कार होने के कारण निया के काष्ठ पटलों की गान्धारी भाषा का अपना एक भिन्न रूप है। सर स्टीन के अनुसार संभवतः इस भाग में अशोक ही के समय में (ईसापूर्व तीसरी शताब्दी) कश्मिरी बौद्ध भिक्खु भी स्थानांतरित हुए थे। स्टीन द्वारा खोजे तथा पढ़े गए काष्ठ पटलों पर आधारित उन्होंने सन १९२० में एक पुस्तक प्रसिद्ध की जिसमें उन पटलों पर उकेरे विषय वस्तु दिए गए हैं।¹⁴ इसके पश्चात भी चिनी अनुसंधानकर्ताओं को इसी प्रकार के कई पटल

प्राप्त हुए जो आज चीन के संग्रहालयों में सुरक्षित रखे गए हैं। स्टीन के प्राप्त पटल ब्रिटिश संग्रहालय में जतन किए जा रहे हैं। गान्धारी प्राकृत का विस्तार तथा धर्म एवं राजभाषा के रूप में उसका महत्व इससे दिखाई देता है।

शीत मरुभूमि में अनुसंधान करने द्वारा स्टीन ने इतिहास का एक अज्ञात द्वारा खोल दिया है। उन्होंने ही कल्हण कृत 'राजतरंगिणी' ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद कर वैश्विक विद्वानों का ध्यान कश्मीर के इतिहास की ओर आकर्षित किया था।

बौद्धों ने गान्धारी प्राकृत को ग्रन्थभाषा बनाया। इस भाषा की विशेषता यह है कि, वह खरोष्ठी लिपि में लिखी गई है जब कि अन्य प्राकृत भाषाएं ब्राह्मी लिपि में लिखी गई हैं। ईसापूर्व काल में गान्धारी में लिखे लगभग पांच-सौ दान-शिलालेख या ताम्रपट प्राप्त हुए हैं।¹⁵ बौद्ध ग्रन्थों की भी लगभग ८० पांडुलिपियां प्राप्त हुई हैं, जिन में से केवल कुछ ही प्रसिद्ध की गई हैं। इंडो-ग्रीक, पार्थियन, शक और कुशाण राजाओं द्वारा जारी की गई द्वैभाषिक मुद्राओं पर गान्धारी भाषा का प्रयोग किया गया है। एक मत प्रवाह है, प्राचीन ज्ञान केन्द्र तक्षशिला का व्यवहार तथा शिक्षा का माध्यम भी गान्धारी भाषा ही था। यह संभवनीय है। लुयोंग तथा अन्यांग से प्राप्त शिलालेखों में गान्धारी प्राकृत का प्रागतिक रूप दिखाई देता है। गान्धारी से कई ग्रन्थ चिनी भाषा में अनुवादित किए गए हैं, जिन में बौद्ध आगम 'दीर्घागम' यह एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

बौद्ध गान्धारी साहित्य में जैसे कई ग्रन्थ पाली से अनुवादित हैं, वैसे ही गान्धारी में स्वतन्त्र रूप से रचे हुए ग्रन्थ भी हैं। धम्मपद, अनवतप्त गाथा, खग्गविसाण सुत्त, संगितीपर्याय एवं एकोत्तारा आगम ऐसे कुल २९ ग्रन्थ त्रुटिरूप में पाए गए हैं। लगभग १२९ त्रुटिगान्धारी ग्रन्थ निजी संग्रह में समाविष्ट हैं। गान्धारी भाषा आजतक पेशावर और कंदाहार प्रदेश में बोली जाती है, जो अब पश्तो इस जाति के नाम से पहचानी जाती है। इस भाषा ने भारत तथा शेष आशिया के बीच सांस्कृतिक सेतु के रूप में मूल्यवान कार्य किया है और इसका श्रेय बौद्धों को देना होगा। गान्धारी भाषा का प्रभावक्षेत्र लांघने के पश्चात हम ईरानी भाषागुट के क्षेत्र में भाषिक प्रवेश करते हैं और ये भाषाएं भारतीय प्राकृत भाषाओं से (संस्कृतसहित) दूर जाती पाई जाती हैं। इसके कारण हमने प्रस्तुत पुस्तक में पहले ही देखे हैं।

प्रागतिक प्राकृत (अपभ्रंश) भाषा

संस्कृत-मिश्रित प्राकृत भाषाओं में उच्चारणभ्रंश हो कर जो भाषाएं निर्माण हुई, वे ही अपभ्रंश भाषाएं हैं, ऐसी एक मान्यता प्रचलित थी। पतंजलि ने अपने 'महाभाष्य' में संस्कृत के 'गौ' शब्द का गावी, गोणी आदि शब्दभ्रष्ट रूपबदल यानी अपभ्रंश ऐसा कहा था, किन्तु हेमचन्द्र ने यही शब्द प्राकृत व्याकरण के आधार से सिद्ध किए थे। प्राचीन जैन सूत्रों में ऐसे शब्द पाए जाते हैं। कहा जाए तो संस्कृत के अतिरिक्त सभी भाषाएं अपभ्रंश हैं, इस ओर संस्कृत वैयाकरणों का झूकाव था। किन्तु हरगोविन्ददास टी. सेठ के अनुसार प्राचीन से मध्ययुगीन ग्रन्थों की जिन भाषाओं में बोलियों के बदलते रूप दिखाई देते हैं, ऐसी सभी भाषाओं को कथित रूप से अपभ्रंश भाषा माना जाता है, जो वास्तविक नहीं है।¹⁶ ये भाषाएं वास्तव में प्रागतिक प्राकृत की विभिन्न अवस्थाएं हैं, यह हमें समझना होगा।

कुछ अभ्यासक सन १००० से १२०० के दरम्यान पाई जानेवाली साहित्यिक भाषा को 'अपभ्रंश' कहते हैं। अपभ्रंश इस शब्द का प्रयोग पतंजलि ने शिष्टभाषा के साथ (संस्कृत) मेल न खानेवाले अशुद्ध भाषिक रूपों के संबंध में किया है ('पूर्वनिपातेऽपभ्रंशोऽरक्ष्यः' ५२२१)। दण्डी अपभ्रंश की व्याख्या 'शास्त्रेषु संस्कृतादन्यत्' इस तरह से करता है तो 'वाग्भटालंकार' कर्ता वाग्भट (बारहवीं शताब्दी) इसका वर्णन 'प्रादेशीय शुद्ध रूप' ऐसा करता है (अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तत्तदेशेषु भाषितम्)। वास्तविक रूप से पुरातन प्राकृत एवं आधुनिक भाषा को

जोड़नेवाले कालखंड के परिवर्तित रूप दर्शनिवाली अपभ्रंश यह एक भाषिक अवस्था है, यह हमें समझना आवश्यक है।

जे. ब्लाख के अनुसार अपभ्रंश एक भाषिक अवस्था न हो कर नवभाषाओं के प्रारंभकाल में प्राकृत का अनुकरण और कहीं-कहीं संस्कृत रूपों को भी अवकाश प्रदान करनेवाली एक लेखन शैली है।¹⁷ हेमचन्द्र के 'सिद्धहेमचन्द्र' ग्रन्थ के आठवें अध्याय में चौथे पाद के संख्या ३२९ से ४४६ ये सूत्र अपभ्रंश के लक्षण वर्णन करते हैं। इन में दिए गए अपभ्रंश काव्य के केवल कुछ उदाहरण देखें तो इस भाषा के कम से कम लेखन के संबंध में संमिश्र स्वरूप का ज्ञान हो सकता है। आगे चलकर यही संमिश्र स्वरूप प्रागतिक स्थिति के प्राप्त होता हम देख सकते हैं। स्पष्ट है, अन्यथा यह भाषा ग्रन्थभाषा नहीं होती।

आठवीं-नौवीं शताब्दी तक उपयोग में रही ग्रान्थिक प्राकृत तथा जनसामान्य की बोली प्राकृत इन में काफी अंतर पड़ता जा रहा था। पश्चात काल के साहित्यकारों ने अपना साहित्य जनभाषा के निकट लाने हेतु प्राकृत की ही अगली अवस्था बनीं प्रागतिक भाषाओं का प्रयोग किया। ये बदलों की अवस्थाएं हमें प्राचीन प्राकृत ग्रन्थों में भी दिखाई देती हैं, जैसे 'पउमचरिय'। इस कारण, इन भाषाओं को अपभ्रंश कहना उचित नहीं है। इन भाषों को प्रागतिक प्राकृत यह संबोधन अधिक उचित होगा। भाषा के रूप-विचार की ओर ध्यान दिया जाए तो यह अवस्था प्राकृत की अपेक्षा अधिक आगे तथा आधुनिक प्राकृत के निकट जाती हुई दिखाई देती है। इसका अर्थ है, प्रवाही प्राकृत का यह प्रागतिक चरण आज की बोली/साहित्य की प्राकृत भाषाओं के साथ जुड़ा दिखाई देता है।

प्राचीन प्राकृत से नई प्राकृत के बीच का यह चरण भारतीय भाषाओं के इतिहास का एक महत्वपूर्ण चरण है। माहाराष्ट्री प्राकृत के संबंध में कहा जाए तो यादव काल में ही मराठी ने प्राचीन प्राकृत (सातारा यहाँ प्राप्त सन ७३९ के ताम्रपट की भाषा) से चक्रधर-मुकुंदराज-ज्ञानेश्वर की प्राकृत यह भाषिक बदलाव देखा था। आगे चलकर ऐसे ही बदलावों के साथ मराठी भाषा नित्य नए रूप अपनाती जाएगी।

इस भाषा के साहित्य की निम्न जानकारी मराठी विश्व कोश से ली गई है।

प्रागतिक प्राकृत भाषाओं का साहित्य

इन अपभ्रंश कहीं गई भाषाओं में साहित्य निर्माण होने की शुरुआत ईसवी की छठीं शताब्दी के पश्चात हुई दिखाई देती है। आज उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य जैनों के ग्रन्थ-भंडार से है और जैनों के अतिरिक्त की अधिकांश अपभ्रंश रचना समय के साथ लुप्त हुई प्रतीत होती है। उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य के कई ग्रन्थ आज भी अप्रकाशित हैं। संभवतः अधिकांश अपभ्रंश साहित्य पद्यरचना के रूप में है और इसके तीन रचना प्रकार हैं: कथात्मक प्रबंध, खण्ड काव्य, और मुक्तक। कथात्मक प्रबंधों में पुराण तथा धार्मिक एवं लौकिक चरित्र समाविष्ट हैं।

संस्कृत नाटकों के कुछ वाक्य तथा माहाराष्ट्री प्राकृत के 'कुवलयमाला' (सन ७७९) इस चंपूकाव्य के संवादों का कुछ भाग इतनी ही अपभ्रंश गद्यरचना उपलब्ध है। विद्यापति कृत 'कीर्तिलता' का गद्य भाग अपभ्रंश काल के बाद का है। भास के 'पंचरात्र' नाटक में शादमंडल शुय्यो (शतमंडलः सूर्यः) ऐसे मागधी अपभ्रंश के शब्द गोपालकों के संवाद में हैं। 'मृच्छकटिक' नाटक के दूसरे अंक में मथुरा की भाषा टक्की या ढक्की है ऐसा पृथ्विधर इस समीक्षक का कहना है, किन्तु मार्कण्डेय तथा आगे चलकर पिशेल ने उसे मागधी अपभ्रंश बताया है। 'कुवलयमाला' में व्यवहारिक अपभ्रंश भाषा का रूप पाया जाता है।

कथात्मक प्रबंध

अपभ्रंश कथाकाव्य रचना का तकनीक सामान्य रूप से ऐसा होता है – १. मंगलाचरण, २. आत्म परिचय, ३. विनय प्रकटन, ४. सुजन-दुर्जन वर्णन, ५. कथा निरूपण, ६. प्रशस्तिपर उपसंहार। तत्कालीन रूझान के अनुसार प्रबंधकारों द्वारा अक्षर वृत्त के बजाय मात्रा वृत्तों का प्रयोग किया गया है और प्रबंधों में पद्धड़िया, द्विपदी एवं चतुष्पदी गेय छन्द रचना पाई जाती है। इन में लोकगीतों की धून पर बने कड़वक हैं। अभंग, ओवी (दोहे), चौपाई तथा ध्वले इन छन्द प्रकारों के पूर्वरूप भी प्रबंध रचना में दिखाई देते हैं।

अपभ्रंश भाषा का पहला महाकवी चतुर्मुख है किन्तु आज उसके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं।

लौकिक चरित्र विभाग में पुष्पदन्त की 'णायकुमारचरित' (नामकुमारचरित) व 'जसहरचरित' (यशोधरचरित) इन दसवीं शताब्दी की रचनाओं का अन्तर्भाव है। इनकी काव्यात्मकता एवं भाषासौन्दर्य ये गुण उल्लेखनीय हैं। धनपाल (दसवीं शताब्दी) रचित 'भविष्यत्तकहा' (भविष्यदत्त कथा) यह आत्यंतिक काव्यमय रचना है और इसका नायक वैश्यकुमार है तथा इस में श्रुतपंचमी का माहात्म्य वर्णन किया गया है। ग्यारहवीं शताब्दी में कनकामरा ने 'करकंडचरित' (करकण्डचरित) की रचना की। बौद्ध तथा जैन धर्मीयों के राजर्षी (प्रत्येक बुद्ध) करकण्ड की यह जीवनी है। माहाराष्ट्री अपभ्रंश में इसकी रचना की गई है और इसकी पृष्ठभूमि महाराष्ट्र के उस्मानाबाद शहर के निकट की तेर गुफाएं हैं। इस काव्य का रचना कौशल करकण्ड राजा की अद्भुतरम्य कथा एवं इसकी नौ उपकथाएं इनके चारुर्यपूर्ण बुनाई से स्पष्ट होती है। बारबर्वीं शताब्दी में धाहिल द्वारा 'पउमसिरिचरित' (पद्मश्री चरित) की रचना की गई। यह काव्य कर्म सिद्धान्त तथा धर्म माहात्म्य के प्रती विश्वास दिलानेवाली एक अद्भुतरम्य प्रेमकथा है। हरिभद्र रचित 'नेमिनाथचरित' (सन ११५८) का सनकुमारचरित यह भाग हर्मान याकोबी ने सन १९२१ में प्रसिद्ध किया। श्रेष्ठ काव्यगुणों की दृष्टि से यह काव्य उल्लेखनीय है।

सन १२०० के पश्चात अर्वाचीन भारतीय भाषाओं का उदय होने के बाद भी अपभ्रंश भाषा में चरित काव्य रचे गए। अपभ्रंश काल के अंत में रचे गए चरित ग्रन्थ, विद्यापति कृत 'कीर्तिलता' जैसे ग्रन्थ, तथा रासो एवं चरित इन में भाषा, रचना, छन्द आदि के संबंध में इतनी समानता पाई जाती है कि, यहां अर्वाचीन भारतीय भाषाओं के नए कालखण्ड की शुरुआत होती है, इस का ख्याल भी नहीं रहता। इससे यही सिद्ध होता है कि, भाषाओं का प्रवाह समय के साथ करवटें लेते हुए किन्तु निरंतर बहता रहता है।

खण्ड काव्य

अपभ्रंश भाषा का एक ही खण्ड काव्य प्रकाशित हुआ है। इसका शीर्षक 'सन्देशरासक' है और इसका रचयिता है अद्वहमाण (अब्दुल रहमान, सन ११०० से १४०० के आसपास)। दूर देस गए अपने पति को उसकी विरहन पत्नी द्वारा भेजा गया यह काव्यमय सन्देश है। जायसी कृत 'पद्मावत' तथा अन्य उत्तरकालीन काव्यों पर भी इस काव्य का प्रभाव पाया जाता है।

मुक्तक

संस्कृत साहित्यकार जिसे मुक्तक रचना कहते हैं, वह अपभ्रंश भाषा में दोहे एवं गीतों के रूप में पाई जाती है। 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के चौथे अंक में 'चर्चरी पद्य' हैं। 'अपभ्रंश काव्यत्रयी' में भी मुक्तक रचना पाई जाती है। इस ग्रन्थ के उपदेशरसायन के गीत गेय तथा नृत्यानुकूल हैं और चर्चरी एवं कालस्वरूपकुलक के गीत रागदारी के माध्यम से गानेयोग्य हैं।

दोहे

जैन, बौद्ध तथा शैव मत के अध्यात्मवादी कवियों के दोहे उपलब्ध हैं। आत्मानुभूति के लिए उपासना करते समय आनेवाली रहस्यमय अनुभूतियों पर इन काव्यों का जोर होता है। ऐसे में भी इनकी रचना में सुवोधता एवं सुभाषितता ये गुण पाए जाते हैं। अध्यात्मवादी जैन कवियों में जोइंदु (सन ६०० से १००० के आसपास) संभवतः पहला कवी है और उसके 'परमपपयासु' (परमात्म प्रकाश) तथा 'योगसार' ये ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इन में परमात्मा के बोध की चर्चा है और इन की कुछ कल्पनाएं शैव एवं बौद्ध गुह्यवादीयों की कल्पनाओं से मेल खाती हैं। मुनि रामसिंह (दसवीं शताब्दी के आसपास) 'पाहुड़ दोहा' (प्राकृत दोहा) ग्रन्थ में २२ दोहे हैं, और उन में निवृत्ति मार्ग का उपदेश पाया जाता है। रामसिंह के संबंध में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है, किन्तु शैव, योग तथा तन्त्र मतों से वे परिचित होंगे, संभव है। एक दोहे में उन्होंने ऐसा विचार व्यक्त किया है कि, शक्ति बिना शिव एवं शिव बिना शक्ति कुछ भी नहीं कर सकते। 'सावय्यधम्मदोहा' (श्रावकधर्म दोहा) इस संग्रह में श्रावक धर्म का वर्णन पाया जाता है। दिग्म्बरपंथी जैन कवी देवसेन ने सन ९३२ में प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की है ऐसा ग्रन्थ के सम्पादक हिरालाल जैन का मत है। डा. आ. ने. उपाध्ये के अनुसार ग्रन्थ का कर्ता लक्ष्मीचन्द्र है। 'सुप्रभकृतवैराग्यसार' (तेरहवीं शताब्दी) इस ग्रन्थ की रचना का स्वरूप दोहे ही है। ग्रन्थ के प्रत्येक दोहे में 'सुप्पट भण्ड' (सुप्रभ कहता है) इस प्रकार कवी ने स्वयं की नाममुद्रा का प्रयोग किया है। हिन्दी भाषा में प्रचलित कुछ वाक्प्रचारों का उपयोग भी कवी ने किया है।

बौद्ध तथा शैव रचनाकारों के दोहों में संध्याभाषा, अर्थात् रहस्यमय, उभयार्थक भाषा का प्रयोग किया गया है। वेदाध्ययन, मन्त्र-तन्त्र तथा कर्मकाण्ड का खण्डन करते हुए सहज मार्ग, सद्गुरु माहात्म्य आदि का निरूपण इस में किया गया है। अध्यात्मिक अनुभवों का शृंगारिक वर्णन भी इस में पाया जाता है और यही इनकी विशेषता है। डा. शहिदुल्ला द्वारा सम्पादित दोहों कोश के रचनाकार काण्हपा (कृष्णपाद) या कानिफनाथ एवं सरहपा (सरहपाद) ये हैं और यद्यपि इनका समय विवाद्य है, सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि, वे सातवीं शताब्दी के आसपास हुए थे।

समारोप

प्राकृत, पाली एवं द्रविड़ भाषाओं ने इस देश का सांस्कृतिक इतिहास रचा। ये भाषाएं पुरातन काल से, अर्थात् मनुष्य इस उपखंड में स्थिर होने के समय से विकसित होने लगी। भूविशेषताओं के अनुसार उन्होंने अपनी-अपनी स्थानीय विशेषताएं भी विकसित की। अति-पुरा प्राकृत भाषा आत्यंतिक सरल, कम जटिल तथा उस समय के सुस्त जीवन व्यवहारों के लिए पर्याप्त ही रही होगी यह बात स्पष्ट है। भारत में चालीस हजार वर्ष पूर्व भीमबेटका तथा अन्य गुंफाओं में चित्र बनाकर अभिव्यक्त होनेवाला जनजातीय मनुष्य बसता था। यह कहना कि, उसकी अपनी कोई भाषा नहीं थी अवैज्ञानिक होगा। सिंधू संस्कृति व्यापारी, निर्माणकर्ता तथा सर्जक संस्कृति थी। तब तक प्राकृत भाषाओं ने कितना प्रगल्भ रूप धारण किया होगा इसका अनुमान हम लगा सकते हैं। भारत में सब से अधिक साहित्य इन्हीं प्राकृत भाषाओं में लिखा गया है। रामायण-महाभारत आदि ग्रन्थ भी मूल रूप से प्राकृत भाषा में ही लिखे गए थे ऐसा विद्वानों द्वारा सिद्ध किया गया है और यह हम पहले देख चुके हैं। ये भाषाएं ऋग्वेद की भी आधार भाषाएं बनी। भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध के समय तक ये भाषाएं इतनी विकसित हो चुकी थीं कि, वे ही विश्व के इन महत्वपूर्ण धर्मों की भाषाएं भी बनी। तान्त्रिकों के अनगिनत ग्रन्थ पुरातन काल ही से प्राकृत में लिखे जाने लगे थे। इन में से कईयों का संस्कृत में अनुवाद किया गया और 'बृहत्कथा' की भाँति मूल ग्रन्थ अदृश्य हो गए। किन्तु इससे भाषा का प्रवाह खंडित नहीं हुआ। प्रगल्भ ग्रन्थों के साथ ही लोकगीत, लोककथा एवं लोकनाट्य के रूप में प्राकृत भाषाएं लालित्यपूर्ण कलासौन्दर्य के साथ उमड़ती रही। धर्मसाहित्य में वे धीरगंभीर रही। ये भाषाएं आज भी जीवित हैं। जिस प्रकार इन भाषाओं ने अन्य भाषाओं

से कुछ लिया, उसी प्रकार उन भाषाओं को अपने कई शब्द तथा संज्ञाएं भी दे दिए। ये भाषाएं नित्य जीवित भाषाएं थी। प्रवाही थी और विकसनशील थी। इन भाषाओं का निर्माण इस देश की मानसिक प्रकृति की निर्मिती है। अपने प्राकृत नामाभिधान ये भाषाएं यथार्थ रूप से तथा गर्व से प्रदर्शित करती रही। इनकी उत्पत्ति किसी अन्य भाषा से हुई यह कथन इनपर अन्याय करनेवाला है।

भाषा का इतिहास संस्कृति का भी इतिहास होता है। प्राकृत/पाली की संस्कृति किसी भी समय दुय्यम नहीं थी। यही प्राकृत भाषाएं संस्कृत जैसी प्रगल्भ भाषा की जननी सिद्ध हुई और यह इतिहास प्रेरक इतिहास है। प्राकृत के वंशजों को यह कुछ सीख देता है। प्रस्तुत पुस्तक में यद्यपि द्रविड़ भाषाओं का समावेश नहीं किया गया है, वे भी उतनी ही प्राचीन एवं साहित्यसम्पन्न हैं, इस में कोई सन्देह नहीं है। हमने जो पहले ही कह चुके हैं, उसे दोहराएं, तो जो संस्कृति जीवमान होती है उस संस्कृति की भाषा कभी भी मृत नहीं होती। समय के साथ वह बदल सकती है क्योंकि परिवर्तन यह किसी भी प्रवाही संस्कृति का अटूट हिस्सा होता है। हमारी भाषासंस्कृति आनेवाले समय में भी प्रगल्भ होती रहेगी, हमारी भाषाएं भी ज्ञानभाषा बनेंगी और सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव भी अभिव्यक्त करने की क्षमता विकसित करेगी ऐसी भावना के साथ प्रस्तुत पुस्तक को समाप्त करेंगे।

संदर्भ-

- ¹ Sanskrit & Prakrit, Sociolinguistic Issues By Madhav M. Deshpande, Motilal Banarsiadas Publ., 1993, pp. 5
- ² Prakrita Prakasha of Vararuchi by Dr. P. L. Vaidya, Poona Oriental Book Agency, 1931, pp. 7-9
- ³ The Bengalees: Glimpses of History and Culture By Samaren Roy, Allied Publishers, 1999, pp. 36
- ⁴ The Buddhist Theory of Self-Cognition, Zhihua Yao, Routledge, 2012. p. 9
- ⁵ A New Course in Reading Pāli: Entering the Word of the Buddha By James W. Gair, W. S. Karunātilake, Dabliv. Es, Motilal Banarsiadas Publ., 1998 , pp. 17
- ⁶ Pali: A Grammar of the Language of the Theravada Tipitaka. With a Concordance to Pischel's Grammatik der Prakrit-Sprachen By Thomas Oberlies, Walter de Gruyter, 2011, pp. 6-7
- ⁷ An Introduction to Kachchayana's Grammar of the Pāli Language by James D'Alwis, Williams & Norgate, 1863, pp. 15-19
- ⁸ The Second Supplement, with Index, to the Cyclopaedia of India and of Eastern and Southern Asia: Commercial, Industrial and Scientific: Products of the Mineral, Vegetable and Animal Kingdoms, Useful Arts and Manufactures , Edward Balfour, editor at the Athenaeum Press, Adelphi Press and Union Press, 1862. pp. 80
- ⁹ A Pali grammar on the basis of Kachchayano by Francis Mason, Toungoo Institute Press, 1868.
- ¹⁰ तत्रैव, पृ. i, ii.
- ¹¹ "Introduction to Prakrit", Alfred C. Woolner, University of the Punjab, pp. 4-5
- ¹² भाषाविज्ञान एवं भाषाशास्त्र, डा. कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, २०१२
- ¹³ Formation of the Marathi Language, J. Bloch, Motilal Banarsiadas Publ., 1970
- ¹⁴ Kharosti inscriptions discovered by Sir Aurel Stein in Chinese Turkestan. Transcribed and edited by A.M. Boyer, E.J. Rapson, and E. Senart. Published under the authority of His Majesty's Secretary of State for India in Council, 1920
- ¹⁵ Catalogue of Kharoshthī Inscriptions; Konow; Salomon, 1998, pp. 74-79
- ¹⁶ Paia-sadda-mahannavo (A Comprehensive Prakrit-Hindi Dictionary) by Pandit Hargovind Das T. Sheth
- ¹⁷ Formation of the Marathi Language, J. Bloch, Motilal Banarsiadas Publ., 1970